स्त्रियों की समस्याएँ

[स्त्रियों के विविध-प्रश्नों का विवेचन और समाधान]

लेखक

महात्मा गांधी

∴

सम्पादक

श्री ज्ञानचन्द जैन एम० ए०

श्री रामनाथ 'सुमन'

∴

प्रकाशक

साधना-सदन

इलाहाबाद

किंग्सवे, दिल्ली : चेतगंज, काशी

डेढ़ रुपया

पूर्व वचन

भारत के नारी-जागरण में गांधीजी की देन, कई दृष्टियों से, अपूर्व है। उनके हमारे सार्वजनिक क्षेत्र में आने पर, युगों की वन्दिनी को, पहली बार मुक्त स्वास्थ्यप्रद वायु का एक झोंका मिला। पहली बार उसने अघाकर स्वच्छ वातावरण में साँस लिया और प्रकाश की एक हलकी फुहार उसके धूमिल, अनियमित, कण्टकित मार्ग पर पड़ी।

यह नहीं कि पहले काम हो नहीं रहा था। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे भाग में अनेक भारतीय विचारकों और सुधारकों ने समाज-सुधार के क्षेत्र में आगे बढ़कर जागरण का सन्देश दिया था! राममोहन राय, विवेकानन्द, दयानन्द की वाणी उसने सुनी थी। उससे नारी को कुछ आश्वासन भी मिला था, पर सामूहिक रूप में फिर भी वह सोई रही—करवटें बदलती रही। उसको सूझता न था कि वह जागकर कर ही क्या सकती है? युग-युग से वह दैन्य और दबाव के वातावरण में साँस लेती आ रही थी। एक बँधे जीवन-क्रम में ही उसे रहना था। वह अपनी प्राचीन बहिनों की गौरव-गाथा पढ़ती तो थी पर आत्म-विश्वास खोकर उसकी ओर विस्मय से देखती थी। मानों यह सब ऐसी चीज़ है, ऐसी चढ़ाई है जो उसके बूते के बाहर हो।

जब गांधीजी ने राष्ट्र के जीवन का रथ आगे बढ़ाया तब भारतीय नारी पर पहली बार उसका विद्युत्प्रभाव देखने में आया। मानो एकाएक अपने पूर्व गौरव, और पूर्व शक्ति, की दीक्षा पाकर, अपने प्रति आश्वस्त होकर, वह उठ खड़ी हुई। सङ्कोच और लज्जा में लिपटी, अपने ही अन्दर छुई-मुई सी हो रही, नारी ने पहली बार सिर उठाकर दुनिया की ओर देखा। उसकी आँखों में तेज आया, उसके हृदय ने बल का अनुभव किया उसके मस्तिष्क में अनुभूति हुई कि वह घर की रानी तो है ही, मानव-

जाति की माता और इसलिए समाज की विधात्री भी है। उसने निश्चय किया कि वह इतिहास पढ़कर और देखकर ही सन्तुष्ट न होगी, वह इतिहास का निर्माण भी करेगी।

भारत में इस समय साधारणतः तीन प्रकार की नारी के दर्शन होते हैं :—

१. प्राचीन प्रथाओं के बीच पली; सीधी-सादी,—जिसमें संस्कार-कुसंस्कार, शास्त्र-अशास्त्र, ज्ञान-अज्ञान का विचित्र मिश्रण है। वह परिश्रमी भी है, दयालु भी है, आचार की गतानुगति का पालन करने वाली है, पर यह सब कुछ मानों अपने आप हो रहा है। जीवन यन्त्रवत् काम करता है। यह सब शक्ति प्रायः घर के अन्दर बन्द है और घर में स्वच्छ बाहरी वायु इतनी कम आती है कि सम्पूर्ण गृह-जीवन अचेतन, निरानन्द, घुटा-घुटा सा दम लिये किसी तरह जी रहा है। स्फूर्ति नहीं, गति नहीं।

२ इस पहली नारी के विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप पैदा होनेवाली आधुनिका; जिसने क्रोध में केवल त्याज्य रूढ़ियों को ही नहीं छोड़ा बल्कि अपने उत्तम संस्कारों, अपनी संस्कृति की धारा, अपनी श्रेष्ठ विचार-परम्परा और अपने कर्तव्य का भी त्याग कर दिया है। प्रायः वह बहुत बोलने वाली, बढ़चढ़ कर दावे करनेवाली पर कार्यक्षेत्र में अक्षम, फैशन और दिखाने की पुजारिन; पुरुषों के विरुद्ध जहर उगलती है पर नकल उन्हीं की करती है और उन्हें रिझाने में कुछ कम वक्त नहीं खर्च करती। पूर्व की हवा में रहकर भी पश्चिम के स्वप्नों में लीन। शरीर-श्रम से दूर भागने वाली; घर के कर्तव्यों के प्रति प्रायः उदासीन। मातृत्व की भावनाओं की अपेक्षा रमणीत्व में अधिक आसक्त। सर्वसाधारण जनता से अलग, उनके प्रति उपेक्षा से भरी हुई, अपने को एक विशिष्ट वर्ग का समझने वाली। शरीर से दुर्बल और बौद्धिक संघर्ष में पीड़ित।

३. इन दोनों से भिन्न; भारतीय आदर्शों में अनुप्राणित पर सामाजिक रूढ़ियों से ऊपर उठने में सचेष्ट। गृह-कर्तव्य और सामाजिक सेवा के आदर्श का

सामञ्जस्य करके चलने वाली; नीति की अन्तःगरिमा से अनुप्राणित पर ऊपरी आचार की अनेक फालतू बातों की उपेक्षा करने वाली। सादगी, स्वच्छता, शील को अपनाने वाली। अपनी अन्तःशक्ति मे अपने प्रति विश्वस्त और सामाजिक सेवा की जिम्मेदारियाँ उठाने को सन्नद्ध। शरीर मे प्रायः क्षीण पर स्फूर्ति से भरी हुई।

स्पष्टतः यह तीसरी श्रेणी गांधीजी के आदर्शों से प्रभावित है। गांधीजी जैसे जीवन के समस्त क्षेत्रों में वैसे ही नारी-जीवन में भी नीति पर ज़ोर देते हैं, पर नारी के अन्दर शक्ति का जो प्रबल स्रोत है उससे वह समाज की जीवनी शक्ति को सींचना भी चाहते हैं। इसीलिए गृहजीवन की पवित्रता की रक्षा करते हुए भी वह चाहते हैं कि नारी अपने गौरव और अपने आदर्श के प्रति जाग्रत हो तथा उस असीम शक्ति-भण्डार का अनुभव करे जो उसके भीतर छिपा, निष्क्रिय, पड़ा हुआ है। यह अनुभव करते हैं कि आज भी पुरुष की अपेक्षा नारी में अधिक त्याग-भावना, अधिक कष्टसहिष्णुता, अधिक शील, अधिक दया, क्षमा और करुणा है। स्पष्टतः वह अहिंसा का सन्देश अधिक गहराई तक ग्रहण कर सकती है। इसीलिए गांधीजी उसे 'त्याग की प्रतिमूर्ति', 'अहिंसा की मूर्ति' कहते हैं।

गांधीजी का प्रत्येक प्रश्न पर विचार करने का अपना एक ढंग है। वह व्यक्तिगत और सामाजिक ज़िम्मेदारियों का एकीकरण करना चाहते हैं। व्यक्ति और समाज के बीच समन्वय करना उनका इष्ट है। अत्यधिक व्यक्तिधर्मी प्रवृत्ति से जहाँ सामाजिक कर्तव्यों के प्रति उदासीनता का जन्म होता है तहाँ अत्यधिक समाजधर्मी हो जाने से व्यक्ति से आत्मभाव का लोप होने लगता है और पाखण्ड तथा दम्भ फैलता है। इसीलिए वह दोनों को संयमित करके, दोनों का एकीकरण करके चलते हैं।

इसी प्रकाश में उनके विचारों को देखना चाहिए। कहीं-कहीं उनके विचार विचित्र से भी प्रतीत होते हैं। जैसे 'सतीत्व का आदर्श' में, मेरी

समझ से, उनका विवेचन बहुत सन्तोषप्रद नहीं। पर ऊपर मैंने उनके दृष्टिकोण के सम्बन्ध में जो कहा है उसपर ध्यान रखें तो उनके विचार को समझा जा सकता है।

× × ×

साधना-सदन की स्थापना में गांधी प्रतिपादित जीवन-मार्ग की प्रेरणा रही है। इसीलिए आरम्भ से गांधी-सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने वाला साहित्य प्रकाशित करना उसका एक ध्येय रहा है। उसके जन्म का दूसरा उद्देश्य नारी-जीवन को बोध देनेवाला साहित्य प्रदान करना है। इस पुस्तक—'स्त्रियों की समस्याएँ'—में दोनों उद्देश्यों की पूर्ति होती है, इसलिए इसे प्रकाशित करते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है।

गांधी-साहित्य छिटफुट कई स्थानों से निकला है, निकल भी रहा है पर उसमें शुद्धता का ध्यान रखने की ओर कहीं विशेष चेष्टा नहीं दिखाई देती। कतरनों का संग्रह कर दिया जाता है : मूल से मिलाया तक नहीं जाता। गांधीजी के साथ यह अन्याय है। उनके शब्दों में ज़रा भी उलट-फेर से बहुधा अनर्थ हो जाता है। इसलिए यह प्रवृत्ति तिरस्करणीय है। सम्पादन में मौलिक रचना से भी कभी-कभी अधिक श्रम पड़ता है। इस पुस्तक के सम्पादन में काफ़ी सावधानी से काम लिया गया है और यथासम्भव इसे प्रामाणिक बनाने की चेष्टा की गई है। आशा है, पाठकों को इससे सन्तोष होगा।

—श्री रामनाथ 'सुमन'

लेख-क्रम

[१५ अध्याय : ४१ लेख]

- ----- -

स्त्रियों की समस्याएँ

[१]

स्त्रियों का सुधार

—+❀+—

१. स्त्रियों को आज़ाद करो

["स्त्रियों की उपेक्षा के लिए, या कहो कि स्त्रियों के दुरुपयोग के लिए निस्सन्देह पुरुष लोग दोषी हैं और इसके लिए उन्हें उचित प्रायश्चित्त करना चाहिए, लेकिन सुधार का रचनात्मक कार्य तो उन बहिनों को ही करना होगा, जिन्होंने मिथ्या विश्वासों को उतार फेंका है और जो जानती हैं कि स्त्रियों के साथ क्या-क्या अत्याचार हुए हैं।"]

मद्रास की सुप्रसिद्ध समाज-सेविका डाक्टर मुथुलक्ष्मी रेड्डी ने मेरे आन्ध्रदेश वाले भाषण के बारे में एक लम्बा पत्र लिखा है। उसमें से एक मनोरञ्जक अंश यहाँ देता हूँ :—

"बैजवाड़ा से गन्तूर तक की अपनी यात्रा के बीच आपने समाज-सुधार की आवश्यकता तथा लोगों की दैनिक आदतों में सुधार के सम्बन्ध में जो कुछ कहा, वे सब बातें सचमुच ही मेरे दिल में पैठ गई हैं।

"मैं नम्रतापूर्वक निवेदन करती हूँ कि डाक्टरी धन्धे की अनुभव प्राप्त एक स्त्री की हैसियत से मैं आपकी बातों से पूरी तरह सहमत हूँ। पर साथ ही नम्रतापूर्वक मैं यह भी कह देना चाहती हूँ कि अगर शिक्षा-द्वारा समाज-सुधार, उत्तम सफाई का प्रबन्ध तथा जनता के स्वास्थ्य का सुधार करना है तो यह सब स्त्रियों की शिक्षा-द्वारा ही सफलता-पूर्वक हो सकता है।

"क्या आपका भी यह विचार नहीं है कि वर्तमान सामाजिक स्थिति में बहुत कम स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने की, अपने शरीर और मन का

पूर्ण विकास करने की तथा अपनी भावनाओं को व्यक्त करने की यथेष्ट सुविधाएँ दी जाती हैं ?

"क्या आपका भी यह विचार नहीं है कि सामाजिक प्रथाओं और रूढ़ियों के नीचे स्त्रियों के व्यक्तित्व को निर्दयतापूर्वक कुचला जाता है ?

"क्या बालविवाह, शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक, सभी प्रकार के विकास के मूल पर ही कुठाराघात नहीं करता है ?

"क्या बालपत्नियां, बालिका माताओं का कष्ट तथा हमारे समाज की विधवाओं और परित्यक्ता स्त्रियों का अपार दुःख तत्काल दूर करने का उपाय करने की आवश्यकता नहीं है ?

"क्या हिन्दू समाज के लिए उस प्रथा को सहन करना अथवा उसके कायम रहने में सहयोग देना उचित है, जिसके द्वारा धर्म के नाम पर निर्दोष बालिकाएँ पतन और पाप का जीवन बिताने के लिए मजबूर कर दी जाती हैं ?

"क्या आपका भी यह विचार नहीं है कि प्राचीन भारतवर्ष में मैत्रेयी, गार्गी और सावित्री-जैसी स्त्रियों में शक्ति और शौर्य का जो तेज था, स्वतन्त्र विचार करने और अपनी ज़िम्मेदारी पर कार्य करने की जो शक्ति थी वह, सामाजिक अत्याचार के फलस्वरूप, कुछ अपवादों को छोड़कर आज की भारतीय स्त्रियों में नहीं है। ब्रह्म-समाज, आर्यसमाज और थियोसोफिकल समाज-जैसे सम्प्रदाय एक प्रकार से निरर्थक रूढ़ियों और विधि-विधानों से मुक्त हिन्दू धर्म के ही रूप हैं और इन सम्प्रदायों की बहुत-सी स्त्रियों में आज भी वह तेज और वह शक्ति है।

"क्या राष्ट्रीय दल के सदस्यों में, मेरा आशय कांग्रेस के सदस्यों से है, इन सब सामाजिक कुरीतियों को, हमारी राष्ट्रीय दुर्बलता के मूल को, हमारी वर्तमान पतित अवस्था के कारण को तत्काल दूर करने की इच्छा और लगन नहीं होनी चाहिए ? क्या वे कम-से-कम इतना भी नहीं कर सकते कि लोगों को समझावें कि स्त्रियों को गुलामी के बन्धन से आजाद कर दो, जिससे वे अपने शारीरिक, मानसिक, नैतिक विकास की पूरी

ऊँचाई तक पहुँच सकें, जिससे वे साहस और बुद्धिमत्ता का उदाहरण उपस्थित कर सकें, और सबसे बढ़ कर तो यह कि जिससे वे पत्नी और माता के नाते भारत के भावी शासकों को शिक्षित करने, उनका पथ-प्रदर्शन करने तथा उनकी आदतों और उनके चरित्र का निर्माण करने का पवित्र कर्त्तव्य अच्छी तरह से पाल सकें ?

"कांग्रेस के सदस्यों का यदि यह विश्वास है कि आज़ादी प्रत्येक राष्ट्र और व्यक्तिमात्र का जन्मसिद्ध अधिकार है और इस आज़ादी को किसी भी मूल्य पर पाने के लिए यदि वे कटिबद्ध हैं तो क्या उनका यह कर्त्तव्य नहीं है कि वे पहले स्त्रियों को उन कुरीतियों तथा कुप्रथाओं से मुक्त करें जो उनके सर्वाङ्गीण विकास का मार्ग रोके हुए हैं? यह उपाय तो इन सदस्यों के हाथ में है।

"हमारे कवियों, सन्तों और ऋषियों ने यही कहा है। स्वामी विवेकानन्द का कथन है : 'जो देश, जो राष्ट्र स्त्रियों का सम्मान नहीं करता वह कभी महान नहीं बन सका है और न भविष्य में बन सकेगा। तुम्हारी जाति इतनी पतित क्यों हो गई है, इसका प्रधान कारण यह है कि तुम में शक्ति की इन सजीव प्रतिमाओं के प्रति कोई आदर नहीं है। यदि तुम स्त्रियों का, जो जगन्माता की साक्षात् मूर्तियाँ हैं, उद्धार नहीं करोगे, तो समझ लो कि तुम्हारा भी उद्धार नहीं होगा।'

"तामिल के प्रतिभाशाली कवि, स्व० सुब्रह्मण्य भारती ने भी इन्हीं विचारों को प्रतिध्वनित किया है।

"अतएव, क्या आप भी कृपा करके पुरुषों को आज़ादी प्राप्त करने का सीधा और अचूक मार्ग ग्रहण करने की सलाह देंगे ?"

डा० मुथुलक्ष्मी को पूरा-पूरा अधिकार है कि वह कांग्रेसमैनों से इस जिम्मेदारी को अपने कन्धे पर लेने की आशा करें। बहुत से कांग्रेसमैन इस दिशा में, व्यक्तिगत रूप से भी और सामूहिक रूप से भी, बहुत काम कर रहे हैं। पर इस बुराई की जड़ ऊपर से देखने में जितनी मालूम पड़ती है उससे कहीं अधिक गहरी है। केवल स्त्रियों की शिक्षा का ही

दोष नहीं है: हमारी सारी शिक्षा-प्रणाली दूषित है। इसी प्रकार इस या उस प्रथा की निन्दा की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता, इस बात की है कि बुराई को स्वीकार करते हुए भी उसे दूर करने की चेष्टा न करने की जो जड़ता हममें आगई है, वह दूर की जाय। और अन्त में जिन कुरीतियों की निन्दा की गई है वे मध्यम वर्ग तक, नगर-निवासियों तक अर्थात् भारत की करोड़ों की आबादी में मुश्किल से १५ फी सदी लोगों तक, सीमित हैं। गाँवों में रहने वाली अधिकांश जनता में न तो बाल विवाह* है और न विधवा-विवाह का निषेध है। यह सच है कि उसमें अन्य बुराइयाँ हैं, जो उसकी उन्नति में बाधक है। पर जड़ता दोनों में एक सी है। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा-प्रणाली में काया पलट हो और ऐसी शिक्षा प्रणाली तैयार हो जो सार्वजनिक हो। जिस शिक्षा-प्रणाली में बालकों के ही समान प्रौढ़ों की शिक्षा पर ज़ोर नहीं दिया जायगा वह असफल होगी। जिस शिक्षा-प्रणाली मे मातृभाषा को अपना स्वाभाविक अग्रस्थान नहीं मिलता उसने, कहना चाहिए, शिक्षण समस्या को छुआ तक नहीं है। यह काम आज का जैसा भी शिक्षित वर्ग है उसी के द्वारा हो सकता है। इसलिए बड़े पैमाने पर सुधार होने से पहले शिक्षित वर्ग की मनोवृत्ति में परिवर्तन होना जरूरी है। और मै डा० मुथुलक्ष्मी से कह देना चाहता हूँ कि भारत में जो थोड़ी सी शिक्षित स्त्रियाँ हैं, उन्हें पाश्चात्य सभ्यता की चोटी से उतर कर भारत के मैदानों में आना पड़ेगा। स्त्रियों की उपेक्षा के लिए, या कहो कि स्त्रियों के दुरुपयोग के लिए निस्सन्देह पुरुष दोषी हैं और इसके लिए

* हमारा ख्याल है, गांधी जी यहाँ भूल करते है। उत्तर भारत के गाँवों में बाल-विवाह एक सामान्य और बहुत जड पकड़ी हुई बुराई है; बल्कि नगरों मे वह कम है। हाँ, विधवा विवाह तथा तलाक की प्रथाओं से उसके दूषणों का कुछ परिमार्जन अवश्य हो जाता है। इधर १५–२० वर्षों में इस विषय में स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ है। —सम्पादक]

उन्हें उचित प्रायश्चित्त करना चाहिए, लेकिन सुधार का रचनात्मक कार्य तो उन बहिनों को ही करना होगा जिन्होंने मिथ्या विश्वासों को उतार फेंका है और जो जानती हैं कि स्त्रियों के साथ क्या-क्या अत्याचार हुए हैं। स्त्रियों की आजादी का, भारत की आजादी का, छुआछूत दूर करने का, लोगों की आर्थिक अवस्था सुधारने आदि का कोई भी सवाल ले लीजिए, सब सवाल एक ही सवाल में मिल जाते हैं और वह सवाल गाँवों में घुसने और ग्रामीण जीवन का पुनर्संघटन अथवा सुधार करने का है।

—हिन्दी नवजीवन, ३० मई, १९२९]

---

२. स्त्रियों का सुधार

[“स्त्री पुरुष की सहगामिनी है। वह बुद्धि में पुरुष से तुच्छ नहीं है। उसे पुरुष के छोटे-से-छोटे कामों में भाग लेने का अधिकार है। उसे पुरुष की ही भाँति स्वाधीनता और स्वतन्त्रता पाने का अधिकार है।”]

बम्बई भगिनी समाज के सालाना जलसे में, मुरारजी गोकुलदास हाल, बम्बई, में भाषण देते हुए गांधीजी ने निम्नलिखित विचार प्रकट किये:—

यह आवश्यक है कि हम समझ लें कि स्त्रियों के सुधार की जो बातें हम करते हैं, उनका अर्थ क्या है। इनके अर्थ हैं कि हम पहले से मान लेते हैं कि स्त्रियों का पतन हुआ है। अगर यह सही है तो हमें इसके आगे विचार करना चाहिए कि यह पतन किस कारण हुआ और किस प्रकार हुआ। इन बातों पर गम्भीर रूप से विचार करना हमारा प्राथमिक कर्त्तव्य है। सम्पूर्ण हिन्दुस्तान की यात्रा करके, मुझे यह अनुभव हुआ है कि सारा वर्तमान आन्दोलन हमारे देशवासियों के एक बहुत ही नगण्य भाग तक सीमित है। यह भाग इस विस्तृत नभोमण्डल में एक बिन्दु के समान है। हमारे देश के करोड़ों स्त्री-पुरुषों का जीवन इस आन्दोलन की जरा भी जानकारी के बिना बीतता है। इस देश के ८५ प्रतिशत लोग दुनिया से अलग रह कर अपना जीवन बिताते हैं। इन्हें पता नहीं

रहता कि इनकी चारों ओर दुनिया में क्या हो रहा है। पर ये स्त्री और पुरुष, अशिक्षित होते हुए भी, अपना जीवन सुचारु और समुचित रीति से बिताते हैं। इन्हें लगभग एक समान शिक्षा मिलती है अथवा यह कहना ठीक होगा कि ये समान रूप से शिक्षा से दूर रहते हैं। लेकिन जीवन में दोनों एक दूसरे की सहायता करते हैं, जैसा कि उन्हें करना चाहिए। यदि उनका जीवन किसी भी अंश में अपूर्ण है तो इसका कारण बाकी १५ प्रतिशत लोगों के जीवन की अपूर्णता में खोजा जा सकता है। अगर भगिनी समाज की मेरी बहिनें हमारे देशवासियों के ८५ प्रतिशत लोगों के जीवन का अध्ययन करें तो उन्हें अपने समाज के सुन्दर कार्यक्रम के लिए यथेष्ट सामग्री मिलेगी।

मैं जो विचार प्रकट करने जा रहा हूँ, वह केवल उपर्युक्त १५ प्रतिशत लोगों तक सीमित रखूँगा। ऐसा करने पर भी मेरे लिए स्त्री और पुरुषों की समान कठिनाइयों पर कुछ विचार करना अप्रासंगिक होगा। हमारे सामने विचारणीय विषय है, पुरुषों की अपेक्षा में स्त्रियों का सुधार। कानून बनाने में अधिकतर पुरुषों का हाथ रहा है और पुरुष इस स्वनियोजित कार्य को पूरा करने में सदा न्यायशील और विवेकशील नहीं रहा है! स्त्रियों के सुधार में, हमारी सबसे अधिक कोशिश यह होनी चाहिए कि हमारे शास्त्रों में स्त्रियों का जातीय स्वभाव कहकर उनपर जो दोषारोप किये गये हैं, उन्हें हम दूर करें। यह उद्योग कौन करेगा और किस प्रकार करेगा? मेरी नम्र सम्मति में, इस प्रकार का उद्योग करने के लिए हमें सीता, दमयन्ती और द्रौपदी-जैसी पवित्र, दृढ़ और आत्मसंयमी स्त्रियाँ उत्पन्न करनी होंगी। यदि हम ऐसी स्त्रियाँ उत्पन्न करेंगे तो हमारी आधुनिक बहिनों की भी हिन्दू समाज में उसी प्रकार प्रशंसा होगी जिस प्रकार उनकी प्राचीन प्रतिमूर्त्तियों की होती है। उनके वचन उसी प्रकार प्रामाणिक माने जायँगे, जिस प्रकार शास्त्रों के वचन प्रामाणिक माने जाते हैं। हमारे स्मृति-शास्त्रों में उन पर यदा-कदा जो आक्षेप किये गये हैं, उनपर हमें लाज आयेगी, और हम शीघ्र ही उन्हें भूल जायँगे।

इस प्रकार की क्रान्तियाँ हिन्दू धर्म में अतीत काल में भी हो चुकी हैं और भविष्य में भी होंगी, जिससे धर्म में हमारा विश्वास मजबूत होगा। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि यह समाज शीघ्र ही ऐसी स्त्रियाँ उत्पन्न करे—जैसी मैं अभी बतला चुका हूँ।

अब हम स्त्रियों के पतन के मूल कारण पर विचार कर चुके। हम उस आदर्श पर भी विचार कर चुके, जिसे पूरा करके हम अपने देश की स्त्रियों की वर्तमान अवस्था में सुधार कर सकते हैं। अवश्य ही ऐसी स्त्रियों की संख्या, जो उस आदर्श को पूरा कर सकेंगी, थोड़ी होगी। इसलिए अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि यदि कोशिश की जाय तो साधारण स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं। पहिले कोशिश यह की जानी चाहिए कि जहाँतक हो सके अधिक से अधिक संख्या में स्त्रियों को उनकी वर्तमान अवस्था का बोध कराया जाय। मैं उन लोगों में नहीं हूँ, जिनका विश्वास है कि यह कोशिश शिक्षा द्वारा ही हो सकती है। इस आधार पर काम करने का अर्थ यह होगा कि हम अपने ध्येय की पूर्ति अनिश्चित काल तक के लिए स्थगित कर देंगे। मैंने पग-पग पर अनुभव किया है कि इतने काल तक प्रतीक्षा करना आवश्यक नहीं है। हम स्त्रियों को शिक्षा दिये बगैर भी भलीभाँति समझा करते हैं कि उनकी वर्तमान अवस्था कितनी शोचनीय है। स्त्री पुरुष की सहगामिनी है। वह बुद्धि में पुरुष से तुच्छ नहीं है, उसे पुरुष के छोटे-से-छोटे कामों में भाग लेने का अधिकार है। उसे पुरुष की ही भाँति समान स्वाधीनता और स्वतन्त्रता पाने का अधिकार है। उसे अपने कार्यक्षेत्र में उसी प्रकार पूर्ण अधिकार प्राप्त है, जिस प्रकार पुरुष को अपने कार्यक्षेत्र में पूर्ण अधिकार प्राप्त है। यह एक साधारण-सी बात होनी चाहिए; यह केवल पढ़ी और लिखी होने के फलस्वरूप नहीं होना चाहिए। केवल एक दूषित प्रथा के बल से मूर्ख-से-मूर्ख और अयोग्य-से-अयोग्य पुरुष तक स्त्रियों के ऊपर श्रेष्ठता प्राप्त करते आये हैं, गोकि इसके वे अधिकारी नहीं हैं और ऐसा अधिकार उन्हें मिलना नहीं चाहिए। हमारे बहुत से

आन्दोलन स्त्रियों की शोचनीय अवस्था के ही कारण पूरी तौर से सफल नहीं हो पाते। हमारे बहुत से कामों का इच्छित फल नहीं होता: हमारी स्थिति 'अशर्फियाँ लुटें पर कोयले पर मुहर' का अनुसरण करने वाले व्यापारी की तरह है, जो फिजूल बातों में तो धन लुटाता है पर छोटी आवश्यक बातों में कंजूसी कर जाता है और अपने व्यापार में, अपने व्यवसाय में यथेष्ट पूँजी नहीं लगाता।

यह ठीक है कि लिखना और पढ़ना जाने बिना भी बहुत-सा उत्तम और लाभप्रद काम किया जा सकता है, फिर भी मेरा पक्का विश्वास है कि आप लिखना और पढ़ना सीखे बिना ज्यादा कुछ नहीं कर सकतीं। लिखना पढ़ना सीख लेने से बुद्धि पैनी हो जाती है और सत्कार्यों के करने का उत्साह मिलता है। मैंने भी कभी लिखने और पढ़ने की जानकारी को अनावश्यक रूप में महत्व नहीं दिया है। मैं उसको केवल उसका उचित स्थान दे रहा हूँ। मैंने बार-बार कहा है कि पुरुषों के लिए यह उचित नहीं है कि वे अशिक्षा के आधार पर स्त्रियों को समानाधिकार से वञ्चित रखें लेकिन स्त्रियों के लिए शिक्षा आवश्यक है, जिससे वे इन प्राकृतिक अधिकारों को बनाये रखने, इनमें सुधार करने तथा इनका प्रचार करने में समर्थ हो सकें। शिक्षा आवश्यक इसलिए भी है कि इसके बिना सच्चा आत्म ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि शिक्षा-विहीन मनुष्य में पशु से बहुत थोड़ा अन्तर रहता है। इसलिए शिक्षा स्त्रियों के लिए भी उतनी ही जरूरी है, जितनी पुरुषों के लिए है। यह जरूरी नहीं है कि दोनों की शिक्षा-प्रणाली समान हो। पहले तो सरकारी शिक्षा-प्रणाली ग़लतियों से भरी है और कितनी ही बुराइयाँ उत्पन्न करने वाली है। स्त्री और पुरुषों, दोनों को, यह त्याग देनी चाहिए। यदि इस प्रणाली में वर्तमान बुराइयाँ न भी होतीं, तब भी मैं इसे स्त्रियों के लिए सभी दृष्टियों से उचित न समझता। स्त्री और पुरुष का दर्जा बराबर है, पर दोनों एक समान नहीं हैं। दोनों की एक सुन्दर जोड़ी है, एक दूसरे की पूरक है। दोनों एक दूसरे की सहायता

करते हैं, अतः एक के बिना दूसरे की सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। इन बातों से यह सिद्धान्त स्वभावतः निकलता है कि ऐसी कोई भी चीज, जो उनमें से किसी के पद को क्षीण करेगी, दोनों के लिए समान रूप से घातक होगी। स्त्रियों की शिक्षा की कोई भी योजना तैयार करते समय, यह प्रधान सत्य सदैव ध्यान में रखना चाहिए। पुरुष सांसारिक कार्यक्षेत्र में प्रधान रहता है, इसलिए यह उचित ही है कि उसे संसार की अधिक जानकारी होनी चाहिए। दूसरी ओर गृह जीवन पूर्णरूप से स्त्रियों का क्षेत्र है, इसलिए घरेलू कामकाज के सम्बन्ध में, बच्चों की शिक्षा और उनके पालन-पोषण के सम्बन्ध में स्त्रियों की अधिक जानकारी होनी चाहिए। यह बात नहीं है कि ज्ञान को ऐसे विभागों में बाँट दिया जाय कि एक का सम्बन्ध दूसरे से न रहे, अथवा ज्ञान की कोई शाखा किसी के लिए बन्द रखी जाय, लेकिन जब तक शिक्षा का क्रम इन मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर न होगा, पुरुष और स्त्री का पूर्ण विकास नहीं हो सकेगा।

मैं थोड़े से शब्द इस सम्बन्ध में कहूँगा कि हमारे देश की स्त्रियों के लिए अंग्रेजी शिक्षा आवश्यक है अथवा नहीं। मैं इस विचार पर पहुँचा हूँ कि साधारण जीवन में, न हमारे देश के पुरुषों को और न स्त्रियों को अंग्रेजी की जानकारी की आवश्यकता है। यह सच है कि जीविका के लिए तथा राजनीतिक आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेने के लिए अंग्रेजी आवश्यक है। मै स्त्रियों के जीविका उपार्जित करने पर, अथवा व्यवसाय करने पर विश्वास नहीं करता। थोड़ी सी स्त्रियाँ हो सकती हैं जिन्हें अंग्रेजी की शिक्षा आवश्यक होगी, अथवा जो अंग्रेजी शिक्षा चाहेंगी। ऐसी स्त्रियाँ आसानी से पुरुषों के स्कूलों में भर्ती होकर अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त कर सकती हैं। स्त्रियों के स्कूलों में अंग्रेजी शिक्षा रखने के मानी यह होगा कि हम अपनी असहाय अवस्था को दीर्घायु प्रदान करेंगे। मैंने बहुधा लोगों को कहते सुना और पढ़ा है कि अंग्रेजी साहित्य का बहुमूल्य भाण्डार पुरुषों और स्त्रियों के लिए समान रूप से

खुलना चाहिए। मैं नम्रतापूर्वक यह कहूँगा कि इस प्रकार के दृष्टिकोण में थोड़ी-सी भ्रान्ति है। यह कोई भी नहीं चाहता कि बहुमूल्य भाण्डार पुरुषों के लिए तो खुला रहे, पर स्त्रियों के लिए बन्द रहे। इस दुनिया में ऐसा कोई नहीं है जो आपको सारे संसार के साहित्य का अध्ययन करने से रोक सके, यदि आपकी रुचि साहित्य की ओर है। लेकिन जब किसी विशिष्ट समाज की आवश्यकताओं का ध्यान रख कर पाठ्य-क्रम बनाया जायगा तो आप उन मुट्ठी भर लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते, जिनकी साहित्य में रुचि हो गई है। मैं जो अपने देश के स्त्री-पुरुषों से अंग्रेजी के अध्ययन में इस समय जितना समय वे देते हैं उससे कम समय देने के लिए कहता हूँ, उसका यह उद्देश्य नहीं है कि मैं उन्हें उस आनन्द से वञ्चित रखूँ जो उन्हें सम्भवतः अंग्रेजी साहित्य के पढ़ने से मिलेगा। मेरा यह मत है कि वही आनन्द कम मूल्य और कम कष्ट से प्राप्त हो सकता है, यदि हम स्वाभाविक प्रणाली का अनुसरण करें। संसार में बहुत से अनमोल सुन्दर रत्न हैं, लेकिन सभी रत्न अंग्रेजी में नहीं हैं। अन्य भाषाएँ भी इसी प्रकार की श्रेष्ठता का दावा कर सकती हैं। सर्वसाधारण के लिए सभी भाषाओं के रत्न सुलभ होने चाहिएँ, और यह तभी हो सकता है जब हमारे विद्वान लोग इन रत्नों को अपनी भाषाओं में अनुवाद करने का काम अपने ऊपर ले लें।

केवल ऊपर की तरह शिक्षा की योजना बना देने से हमारे समाज से बाल-विवाह की बुराई नहीं मिट जायगी अथवा स्त्रियों को समानाधिकार नहीं प्राप्त हो जायगा। आइए, अब हम उन लड़कियों के मामलों पर विचार कर लें, जो विवाह के बाद, एक प्रकार से, हमारी नज़रों से गायब हो जाती हैं। वे हमारे स्कूलों में लौटने की नहीं। उनकी माताएँ अपनी लड़कियों के बालविवाह के अकथनीय तथा अकल्पनीय पाप के बोझ से दबी रहती हैं। वे अपनी लड़कियों को शिक्षा दिलाने की अथवा उनके सूखे जीवन में किसी प्रकार की हरियाली लाने की सोच भी नहीं सकतीं। जो पुरुष एक किशोरी कन्या से विवाह करता है, वह ऐसा किसी

परोपकार की भावना से नहीं करता, बल्कि अपनी कामुकता के कारण करता है। ऐसी लड़कियों को कौन रक्षा करेगा। इस प्रश्न का उचित उत्तर स्त्रियों की समस्याओं का भी हल होगा। इसका उत्तर, यद्यपि कठिन है, फिर भी एक ही है। उसका पक्ष उसके पति के सिवा और कौन ले सकता है। एक बालपत्नी से यह आशा करना व्यर्थ है कि उस पुरुष को, जिसने उससे विवाह किया है, रोगमुक्त कर सकेगी। इसलिए यह कठिन कार्य, कमसे कम फिलहाल, पुरुष पर छोड़ देना चाहिए। यदि मेरे हाथ में ताकत होती तो मैं बाल-पत्नियों की गणना करवाता और नैतिक तथा विनम्र उपदेशों से स्त्रियों को इकट्ठा करता और उन्हें बोध कराने की चेष्टा करता कि अपने भाग्य की डोरी एक बाल-पत्नी के साथ बाँधकर वे कितना भारी पाप कर रहे हैं तथा उन्हें चेताता कि इस पाप के दूर करने का केवल यही रास्ता है कि जब तक वे शिक्षा के द्वारा अपनी पत्नी को बच्चे उत्पन्न करने के केवल योग्य ही न बना लेंगे, बल्कि उन बच्चों का ठीक तौर से पालन-पोषण करने के योग्य भी बना लेंगे, तब तक वे पूर्णरूप से कुँवारेपन का जीवन बितायेंगे।

इस प्रकार भगिनी समाज की सदस्याओं के लिए कार्य करने को बहुत से क्षेत्र हैं। काम करने का क्षेत्र इतना बड़ा है कि यदि दृढ़ता से कमर बाँध ली जाय तो सुधार के बड़े-बड़े आन्दोलनों को तो एक ओर छोड़ा जा सकता है और होमरूल का नाम तक लिये बिना होमरूल की प्राप्ति के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। जब छापेखाने नहीं थे और भाषण करने का दायरा बहुत छोटा था, जब एक दिन अब की तरह हजारों मील का नहीं, बल्कि २४—२५ मील का सफर किया जा सकता था, हमारे पास अपने आदर्शों के प्रचार के लिए केवल एक साधन था, और वह साधन था अपने आचरण-द्वारा आदर्श उपस्थित करना; और आचरण में आदर्श उपस्थित करने का भारी प्रभाव पड़ता है। हम आजकल हवा की तेजी की तरह इधर से उधर दौड़ते हैं, भाषण देते हैं, समाचारपत्रों में लेख लिखते हैं; फिर भी हमको सिद्धि नहीं मिलती और

हम निराश हो जाते हैं। भाई, मेरा तो यह मत है कि जैसा प्राचीन समय में होता था, जनता पर भाषणों तथा लेखों की अपेक्षा हमारे आचरण का अधिक शक्तिशाली प्रभाव पड़ेगा। मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि आपके समाज की सदस्याएँ जो कुछ करें, उसमें शान्ति और विनीत भाव से किये गये कार्य को अधिक महत्व दें।

—२० फरवरी, १९१८; 'स्पीचेज ऐण्ड राइटिंग्स आफ महात्मा गांधी' में]

- - -

[२]

स्त्रियों का कार्यक्षेत्र

—+❋+—
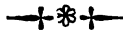
१. स्त्रियों का कर्त्तव्य क्या है ?

["मेरे मत से स्त्री को घर छोड़ कर घर की रक्षा के निमित्त कन्धे पर बन्दूक धरने के लिए आह्वान करने पर अथवा इसके लिए उसे प्रोत्साहित करने पर, स्त्री और पुरुष दोनों का ही पतन होगा। यह तो फिर से जङ्गली बनना और विनाश का आरम्भ हुआ।"]

एक बहुत सुशिक्षित बहिन का पत्र, कुछ हिस्से छोड़ देने के बाद, यहाँ देता हूँ :—

"आपने अहिंसा और सत्याग्रह के सहारे सारे संसार को आत्मा की महत्ता दिखा दी है। इन्हीं दोनों शब्दों से मनुष्य के पशु-स्वभाव को जीतने की समस्या हल हो सकती है।

"उद्योग के द्वारा शिक्षा केवल महान विचार ही नहीं है, बल्कि यदि हम अपने बच्चों को स्वावलम्बी बनाना चाहते हैं, तो शिक्षा का एक-मात्र सही तरीका है। आप ही हैं, जिन्होंने यह बात कही है और एक वाक्य में शिक्षा की गहन समस्या हल कर दी है। इसका विस्तार तो परिस्थितियों और अनुभव के आधार पर किया जा सकता है।

"मेरी प्रार्थना है कि आप हमारी, स्त्रियों की, समस्या भी हल कर दें। राजाजी* कहते हैं कि स्त्रियों की कोई समस्या ही नहीं है। शायद राजनीतिक अर्थ में न हो। कदाचित् कानून के द्वारा धन्धे के सम्बन्ध में हमें निश्चिन्त बनाया जा सकता है, मतलब कि सभी धन्धे स्त्री और

---

* राजाजी का मतलब श्रीचक्रवर्त्ती राजगोपालाचार्य से है। —सम्पादक।

पुरुषों के लिए समान रूप से खोले जा सकते हैं। पर इन चीजों से इस बात में अन्तर नहीं पड़ता कि हम स्त्री हैं और हमारा स्वभाव पुरुषों से भिन्न है। हमें अपनी निम्न प्रवृत्तियों पर विजय पाने के लिए अहिंसा और सत्याग्रह के अलावा अतिरिक्त सिद्धान्तों की आवश्यकता है। पुरुष की तरह स्त्री की आत्मा भी ऊँचा उठने की कोशिश करती है। पर जिस प्रकार पुरुष को अपनी आक्रमणकारी भावना, कामवासना तथा दूसरे को दुःख पहुँचाने की पशुवृत्ति आदि से छुटकारा पाने के लिए अहिंसा और ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है, उसी प्रकार स्त्री को भी कुछ अलग सिद्धान्तों की आवश्यकता है, जिससे वह अपनी निम्न वृत्तियों से छुटकारा पा सके। ये निम्न वृत्तियाँ पुरुषों से भिन्न प्रकार की होती हैं और साधारणतया इन्हें स्त्रियों में प्राकृतिक बताया जाता है। स्त्री के लिए, उसका अपना जातिगत स्वभाव, स्त्री होने के कारण उसका जिस रीति से लालन-पालन होता है वह, तथा उसकी चारों ओर जैसा वातावरण पैदा होता है, यह सभी कुछ उसके विरुद्ध पड़ता है। और जब स्त्री कार्यक्षेत्र में आती है तो ये सभी बातें, अर्थात् उसका जातिगत स्वभाव, उसकी शिक्षा-दीक्षा और उसका वातावरण, उसके काम में बाधा डालती है, उसका मार्ग रोकती हैं और यह सामान्य बात कहने का मौका देती है कि 'आख़िर वह औरत ही तो है।' जब मैं कहती हूँ कि स्त्री होना ही गले का भार हो गया है, तो मेरा मतलब यही है। मेरे विचार में यदि हमें अपनी समस्याओं का सही हल मिल जाय, अपने सुधार का सही उपाय हाथ लग जाय तो सहानुभूति, कोमलता आदि हमारे स्वाभाविक गुण हमारे मार्ग के बाधक होने के बजाय साधक हो सकते हैं। यह सुधार, जैसा कि आपने पुरुषों और बच्चों की समस्याओं के हल के सम्बन्ध में बताया है, हमारे भीतर से होना चाहिए।

"मैंने स्वभाव, शिक्षा-दीक्षा और वातावरण की बात कही है। अपनी बात स्पष्ट करने के लिए मैं एक मिसाल दूँगी।

"स्त्रियों को प्रकृति ने ही मृदुल, कोमलहृदया, सहानुभूतिपूर्ण और

बच्चों की माँ बनाया है। इन चीजों का उसपर बहुत असर पड़ता है,—बहुत हद तक अनजान में। इसलिए जब काम करने का अवसर आता है तो वह अत्यधिक भावुक हो जाती है। पुरुषों का साथ पड़ने पर, वह बहुत सी भारी गलतियाँ कर बैठती है। जिस वक्त उसे सख्त होना चाहिए उस समय उसका दिल पिघल जाता है। वह जल्दी ही खुश और नाराज हो उठती है, आसानी से गर्व के सिंहासन पर चढ़ जाती है और साधारणतया भोलेपन से काम करती है। जब मैं आपसे मिलने आई थी तब यद्यपि आप से भेंट करने के लिए मैं बहुत उत्सुक थी और पिछली रात को इस सम्बन्ध में विचार करते-करते मुझे नींद भी नहीं आई थी [illegible] जब मैं आपके सामने आई और मुझसे बैठने के लिए कहा गया तो मैं श्री देसाई की लम्बी-चौड़ी पीठ की आड़ में जाकर बैठ गई। वहाँ से न मैं आपकी बातें सुन सकी और न आपको देख सकी। मैंने भी कैसी मूर्खता की। इसके अलावा, मैंने देखा कि मैं ठीक तौर से अपनी बात भी नहीं समझा पाती थी, मेरे मुँह से बोल नहीं फूटता था। मैं समझती हूँ, इसकी वजह यह थी कि मैं स्वभाव से भावुक हूँ और आसानी से आपे से बाहर हो जाती हूँ। अवश्य ही, यह विशेष दोष उचित शिक्षा से दूर किया जा सकता है।

"मेरी एक सहेली ने स्त्रियों के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में राष्ट्रीय योजना उपसमिति* द्वारा भेजी गई प्रश्नावली के जो उत्तर दिये हैं, वे मुझे दिखाये थे। आपको मालूम ही होगा कि प्रश्नावली पर, नम्बर पड़े हैं और वह कुछ इस प्रकार है, 'देश के जिस भाग में आप रहती हैं, वहाँ स्त्रियों को किस हद तक अपने अधिकार से सम्पत्ति रखने, प्राप्त करने, उत्तराधिकार में पाने, बेचने या दे डालने का हक़ है? विविध प्रकार के कामों और धन्धों की शिक्षा और दीक्षा के लिए, जिससे अलग-अलग

* 'नेशनल प्लैनिंग कमेटी' से अभिप्राय है जिसमें देशके प्रसिद्ध विचारकों एवं विशेषज्ञों का सहयोग प्राप्त किया गया है।—सम्पादक।

योग्यता रखनेवाली स्त्रियाँ उन्हें अपना सकें, क्या-क्या प्रबन्ध है अथवा क्या-क्या सुविधाएँ प्राप्त हैं ?' मेरी सहेली ने इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया है, बल्कि लिख भेजा है:—'यह कहना जरा भी सच नहीं है कि हमारे यहाँ प्राचीनकाल में स्त्रियों को शिक्षा नहीं मिलती थी।' उसने आगे लिखा है कि 'वैदिक युग में, स्त्री का विवाह हो जाने पर, तत्काल कुटुम्ब में प्रतिष्ठा का स्थान मिल जाता था और वह अपने पति के घर की स्वामिनी हो जाती थी।' इत्यादि, इत्यादि। उसने मनु से उद्धरण भी दिये हैं। मैंने उससे पूछा कि प्रश्नावली तो आज के ज़माने के बारे में है, तुमने पुराने जमाने की प्रथाओं के सम्बन्ध में क्यों लिखा है ? उसका विचार था कि निबन्ध के रूप में उत्तर बढ़िया होता है। उसने इस सम्बन्ध में कुछ बुदबुदाकर कहा; फिर तेज होकर बोली कि श्रीमती अमुक का उत्तर तो मेरे उत्तर से भी खराब था। मेरी समझ में मेरी सहेली की इस गलती का कारण उचित शिक्षा का अभाव है, जो उसे इस कारण नहीं मिली कि वह स्त्री है। यह तो एक क्लर्क भी जानता है कि जब कोई प्रश्न पूछा जाय तो उसके उत्तर में किसी दूसरे विषय पर निबन्ध नहीं लिखना चाहिए।

"मैं समझती हूँ मुझे और अधिक उदाहरण देने तथा अपनी बात समझाने की आवश्यकता नहीं है। आपको सब प्रकार की स्त्रियों का इतना विशाल अनुभव है कि आप यह भलीभाँति जानते होंगे कि मेरा यह कहना सही है या नहीं कि स्त्रियों को उस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का पता नहीं है, जिससे उनका सुधार हो सके।

"आपने मुझे 'हरिजन'* पढ़ने की सलाह दी थी। मैं बड़े शौक से पढ़ती हूँ। पर अब तक अन्तरात्मा के लिए उसमें कोई परामर्श मेरे देखने में नहीं आया है। राष्ट्रीय आजादी के लिए कातना और लड़ना तो

* 'हरिजन' गांधी जी का साप्ताहिक विचारपत्र है जो अंग्रेजी में पहले पूना, फिर अहमदाबाद में निकलता था। अब बन्द है।—सम्पादक

उस शिक्षा के कुछ पहलू ही हैं। उनमें समस्या का सारा हाल नहीं दिखाई पड़ता। कारण, मैंने ऐसी स्त्रियाँ देखी हैं जो चर्खा भी चलाती हैं और कांग्रेस के आदर्शों को व्यवहार में लाने का भी प्रयत्न करती हैं, फिर भी ऐसी-ऐसी भूलें कर बैठती हैं, जिनकी वजह उनका स्त्री होना बताया जाता है।

'मैं नहीं चाहती कि स्त्री पुरुष के समान बन जाय। पर जैसे आपने पुरुषों को अपनी पशुवृत्ति पर विजय प्राप्त करने के लिए अहिंसा सिखाई है, वैसे ही हमें भी कुछ पाठ बताइए, जिससे हमारी मूर्खताएँ दूर हो जायँ। कृपा करके बताइए, हम कैसे अपने स्वभाव का सदुपयोग करें, कैसे अपनी बाधाओं को अपनी सुविधाओं में परिवर्तित करलें।

"यह स्त्री होने की भावना का भार सदैव मेरे ऊपर रहता है। जब कभी मैं किसी को नाक-भौं सिकोड़ कर यह कहते सुनती हूँ कि, 'आखिर है तो वह स्त्री ही', तो मेरी आत्मा सङ्कुचित हो जाती है, यदि आत्मा का सङ्कुचित होना सम्भव है। एक आदमी से मैंने इन बातों की चर्चा की तो वह मुझ पर हँसने लगा और बोला, 'क्या अपने मित्र के घर आपने उस बच्चे को देखा था। वह गाड़ी का खेल खेल रहा था और छकछक करता हुआ जब खम्भे के सामने आया तब उससे घूम कर जाने के बजाय, उसने उसे अपने कन्धों से धक्का देकर गिराने की कोशिश की। अपने बालस्वभाव के कारण वह समझता था कि मैं इस खम्भे को गिरा दूँगा। आपकी बात मुझे उसकी याद दिलाती है। आप जो कहती हैं वह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। आप उसे समझने और हल करने का जो प्रयत्न करती हैं, उससे मुझे हँसी आती है।'

मैं तो यह सोचकर खुश था कि जिस दिन मैंने सत्याग्रह की खोज की उसीदिन से स्त्रियों के उद्धार के कार्य में भी मेरा योग आरम्भ हो गया। पर इस पत्र की लेखिका का मत है कि स्त्रियों को पुरुषों से भिन्न इलाज की आवश्यकता है। अगर ऐसी बात है तो मैं नहीं समझता कि कोई भी पुरुष सही हल निकाल सकेगा। वह चाहे जितनी

कोशिश करे पर असफल ही रहेगा, क्योंकि प्रकृति ने उसे स्त्री से भिन्न बनाया। जिसके लगती है वही जानता है कि पीड़ा कहाँ हो रही है। इसलिए अन्ततोगत्वा स्त्रियों को ही अधिकारपूर्वक निर्णय करना होगा कि वे क्या चाहती हैं। मेरी अपनी राय यह है कि जैसे मूल में स्त्री और पुरुष एक हैं, वैसे ही उनकी समस्या भी तात्त्विक रूप में एक ही है दोनों में एक ही आत्मा है। दोनों एक ही प्रकार का जीवन बिताते हैं, दोनों में एक ही प्रकार की भावनाएँ होती हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं; एक की सक्रिय सहायता के बिना दूसरा जी नहीं सकता। *

मगर, किसी-न-किसी उपाय से, पुरुष ने दीर्घकाल से स्त्री पर आधिपत्य रखा है और इसलिए स्त्री में हीनता की भावना आ गई है। पुरुष ने स्वार्थवश स्त्री को यह सिखाया है कि वह उससे नीची है और स्त्री ने यह सच मान लिया है। पर ज्ञानी पुरुषों ने उसका बराबर का दर्जा स्वीकार किया है।

फिर भी इसमें कोई शक नहीं कि दोनों एक जगह पहुँच कर अलग अलग हो जाते हैं। जहाँ यह बात सच है कि दोनों मूल में एक हैं, वहाँ यह बात भी उतनी ही सच है कि दोनों की शरीर-रचना में बहुत अन्तर है। इसलिए दोनों के कार्य भी अलग-अलग होने चाहिएँ। मातृत्व के कर्त्तव्यों को पूरा करने को, जिसके लिए अधिकांश स्त्रियाँ सदा तैयार रहेंगी, जिन गुणों की आवश्यकता है उनका पुरुषों में होना जरूरी नहीं है। स्त्री निष्क्रिय (Passive) होती है और पुरुष सक्रिय (Active) होता है। स्त्री स्वभाव से घर की स्वामिनी होती है। पुरुष कमाता है; स्त्री उस कमाई का उपयोग करती और घर के लोगों को रोटी देती है। वह हर तरह से पालनहार है। मानवजाति के दुधमुँहे बच्चों को पाल-पोसकर बड़ा करना उसका विशेष और एकमात्र

* फरवरी, १९९७ ई० में सेवाग्राम में एक अमेरिकन महिला के प्रश्न के उत्तर में गांधीजी ने कहा था—

अधिकार है। वह सार-सँभाल न करे तो मानवजाति नष्ट हो जाय।

मेरे मत में स्त्री को घर छोड़कर घर की रक्षा के निमित्त कन्धे पर बन्दूक धरने के लिए आह्वान करने अथवा इसके लिए उसे प्रोत्साहित करने में स्त्री और पुरुष, दोनों, का ही पतन है। यह तो फिर से जङ्गली बनना और विनाश का आरम्भ हुआ। जिस घोड़े पर पुरुष सवार है, उसीपर स्त्री भी सवार होने का प्रयत्न करके अपने को तो गिराती ही है, पुरुष को भी गिरा देती है। पुरुष यदि अपनी सहचरी को अपना विशेष क्षेत्र छोड़कर भाग जाने का प्रलोभन दिखायेगा अथवा इसके लिए उसे मजबूर करेगा तो इसका पाप उसीके सिर होगा। अपने घर को सुव्यवस्थित और सुदशा में रखने में भी उतनी ही वीरता है, जितनी उसकी बाहर से रक्षा करने में है।

मैं करोड़ों किसानों को उनके स्वाभाविक वातावरण में देख चुका हूँ और छोटे-से सेगांव में भी जब उन्हें रोज देखता हूँ तो मेरा ध्यान बरबस उनके कार्यक्षेत्र के स्वाभाविक विभाजन की ओर जाता है। कोई भी स्त्री लुहार अथवा बढ़ई नहीं। लेकिन खेतों में स्त्री और पुरुष दोनों काम करते हैं। भारी काम सदा पुरुष करते हैं। स्त्रियाँ घर की देखरेख और व्यवस्था रखती हैं। वे कुटुम्ब की थोड़ी-सी कमाई में वृद्धि अवश्य करती हैं, पर मुख्य कमाई पुरुष ही करता है।

बस, दोनों के कार्यक्षेत्र के विभाजन की आवश्यकता स्वीकार कर लो बाकी दोनों को सामान्य गुणों की तथा सामान्य संस्कृति की आवश्यकता है।

"मैं स्त्रियों के उचित शिक्षण में विश्वास रखता हूँ। किन्तु मेरा यह भी विश्वास है कि स्त्री पुरुष की नक़ल करके या उसके साथ दौड़ में शामिल होकर दुनिया को अपनी देन का लाभ नहीं प्रदान कर सकती। वह दौड़ में पुरुष के साथ दौड़ सकती है लेकिन पुरुष की नकल करके वह उस महान ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकती जहाँ तक पहुचने की क्षमता उसमें है। उसे तो पुरुष का पूरक ही होना पड़ेगा।"

इस महान समस्या को सुलझाने में मेरी देन यही है कि सत्य और अहिंसा को सामने रखकर राष्ट्रों और व्यक्तियों से कहूँ कि वे जीवन के हर क्षेत्र में इन्हें अङ्गीकार कर लें। मैंने यह आशा बाँध रखी है कि इस काम में निर्विवाद रूप से स्त्रियाँ ही अगुआ बनेंगी और मानवता के विकास में इस प्रकार अपना उचित स्थान पाकर वे अपनी हीनता की भावना त्याग देंगी। यदि स्त्री यह कार्य सफलतापूर्वक कर सकी तो वह दृढ़ता के साथ इस नई शिक्षा में विश्वास करने से इन्कार कर देगी कि सब कार्यों का सङ्कल्प और सञ्चालन कामवासना-द्वारा होता है। मुझे डर है कि मैंने यह बात कहीं भद्दे ढङ्ग से तो नहीं कह दी। लेकिन मुझे आशा है कि मेरा अर्थ स्पष्ट है। मुझे पता नहीं कि लाखों पुरुष, जो युद्ध में सक्रिय भाग ले रहे हैं, काम के भूत के वश में हैं। खेतों में साथ साथ काम करनेवाले किसानों पर भी यह भूत सवार नहीं है और न उन्हें इसकी विशेष चिन्ता रहती है। मेरे कहने का यह मतलब या मन्तव्य नहीं है कि वे उस प्रेरणा से मुक्त हैं जो पुरुष-स्त्री में निहित है।

पर इतना तो बिलकुल निश्चित है कि यह चीज उनके जीवन पर उस प्रकार हावी नहीं है, जितनी उन लोगों के जीवन पर हावी है जो आधुनिक काम-साहित्य में डूबे हुए हैं। जब स्त्री अथवा पुरुष को जीवन की कठोर वास्तविकताओं का सामना करके ज़िन्दगी बितानी पड़ती है तब दोनों में से किसी को इन बातों के लिए फ़ुर्सत ही नहीं मिलती।

मैंने इन कालमों में लिखा है कि स्त्री अहिंसा का अवतार है। अहिंसा का अर्थ है अनन्त प्रेम और अनन्त प्रेम का अर्थ होता है कष्ट उठाने की असीम क्षमता। स्त्री को छोड़कर, जो पुरुष की माता है, इस प्रकार की क्षमता इतनी मात्रा में और कौन दिखाता है। नौ महीने तक बच्चे को पेट में रखकर और उसे अपना रक्त पिलाकर वह अपनी क्षमता प्रदर्शित करती है और इस कष्ट-सहन में आनन्द मानती है। प्रसव-वेदना में जो पीड़ा होती है, उससे बढ़कर और कौन पीड़ा हो सकती है। मगर वह सन्तान को जन्म देने की खुशी में उसे भूल जाती है। और,

फिर दिन-प्रतिदिन बच्चे को बड़ा करने में जो कष्ट वह उठाती है, वह और कौन उठा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि वह अपना प्रेम मानव-जाति को बाँट दे; वह यह भूल जाय कि वह पुरुष के भोग की वस्तु थी अथवा हो सकती है। और तब वह पुरुष के बराबर—, उसकी माता, उसकी निर्माण करनेवाली और उसका मूक पथप्रदर्शक होने का गौरवपूर्ण पद धारण कर लेगी। युद्ध में फँसी हुई दुनिया को शान्ति की कला सिखाने का काम भगवान ने स्त्री पर सौंपा है। सारी दुनिया शान्ति-रूपी अमृत के लिए तड़प रही है। वह सत्याग्रह की नेत्री बन सकती है: उसके लिए पुस्तकों से अर्जित ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, बल्कि कष्ट-सहन और श्रद्धा से निर्मित बलवान हृदय की आवश्यकता है।

बरसों पहले सासून अस्पताल पूना में जब मैं बीमार पड़ा था, तब मेरी चारुशीला नर्स ने एक स्त्री की कहानी सुनाई थी जिसने क्लोरोफार्म लेने से इन्कार कर दिया था, क्योंकि उसके पेट में बच्चा था और वह उसकी जान खतरे में नहीं डालना चाहती थी। उस स्त्री को एक कष्टप्रद चीरा लगवाना था। उसके लिए बेहोशी की दवा अपने बच्चे का प्रेम ही था, जिसे बचाने के लिए वह बड़े-से-बड़ा कष्ट सहने को तैयार थी। स्त्रियों में ऐसी वीर ललनाएँ बहुत हुई हैं। उन्हें कभी अपने स्त्री होने से घृणा नहीं करना चाहिए अथवा पुरुष न होने का दुःख न करना चाहिए। उस वीर ललना का ध्यान जब आता है तब बहुधा मुझे स्त्रियों के पद पर ईर्ष्या होती है। क्या अच्छा हो कि स्त्रियाँ भी अपने पद-गौरव को पहचानें। पुरुष को भी स्त्री के रूप में जन्म लेने की उतनी ही इच्छा हो सकती है, जितनी स्त्री को पुरुष के रूप में जन्म लेने की। पर यह इच्छा व्यर्थ है। हमें तो चाहिए कि भगवान ने जिस योनि में जन्म दिया है उसी में प्रसन्न रहें और प्रकृति ने हमारे लिए जो कर्त्तव्य निश्चित कर दिया है उसी को पूरा करें।

हरिजन, २४ फरवरी, १९४०]

२. स्त्रियों का काम

["मेरी कल्पना में समाज की जो नई व्यवस्था है, उसमें सभी अपनी सामर्थ्य के अनुसार काम करेंगे और उन्हें अपने श्रम का उचित मूल्य मिलेगा। इस नई व्यवस्था में स्त्रियाँ थोड़े समय के लिए काम करेंगी, पर उनका मुख्य काम घर की देख-भाल करना होगा।"]

प्रश्न—"आप कहते हैं:—"स्त्री को घर छोड़कर घर की रक्षा के लिए कन्धे पर बन्दूक धरने के लिए आह्वान करने पर अथवा इसके लिए उसे प्रोत्साहित करने पर, स्त्री और पुरुष, दोनों का ही पतन होगा। यह तो फिर जङ्गली बनना और विनाश का आरम्भ हुआ।" लेकिन उन करोड़ों स्त्रियों के लिए क्या कहिएगा, जो खेती करतीं तथा कारखानों आदि में मजूरी करती हैं? उन्हें भी तो घर छोड़कर जीविका कमानी पड़ती है। क्या आप उद्योग-धन्धों को मिटा देंगे और फिर वही पत्थर-युग को खींच लायँगे? क्या यह फिर जङ्गली बनना और विनाश का आरम्भ नहीं होगा? आपकी कल्पना में समाज की यह नई व्यवस्था कौन-सी होगी, जिसमें स्त्रियों से काम लेने का पाप नहीं होगा?

उत्तर—करोड़ों स्त्रियों को यदि बरबस घर छोड़कर अपनी जीविका कमानी पड़ती है तो यह बुरी बात है। पर यह उतनी बुरी बात नहीं है, जितनी कन्धे पर बन्दूक रखना है। वास्तव में मजदूरी करने में कोई बर्बरता नहीं है। अपने घरों की देखभाल करते हुए यदि स्त्रियाँ स्वेच्छा से खेतों पर भी काम करती हैं तो इसमें मुझे कोई बर्बरता नहीं दिखाई पड़ती। मेरी कल्पना में समाज की जो नई व्यवस्था है, उसमें सभी अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार काम करेंगे और उन्हें अपने श्रम का उचित मूल्य मिलेगा। इस नई व्यवस्था में स्त्रियाँ थोड़े समय के लिए काम करेंगी, पर उनका मुख्य काम घर की देखभाल करना होगा। चूँकि मैं अपनी नई व्यवस्था में बन्दूक को स्थायी चीज नहीं मानता, इसलिए जहाँ तक पुरुषों का सम्बन्ध है, वहाँ भी उसका इस्तेमाल धीरे

धीरे कम होता जायगा। जब तक उसका इस्तेमाल होता रहेगा, तब तक उसे एक अनिवार्य बुराई समझ कर सहन किया जायगा। पर मैं जान-बूझकर इस बुराई की छूत स्त्रियों को नहीं लगने दूँगा।

—हरिजन, १६ मार्च, १६४०]

---

३. स्त्री का ईश्वर-निर्मित कार्य।

["अहिंसा के पथ पर नई खोज करने तथा साहसपूर्ण क़दम उठाने के लिए पुरुष की अपेक्षा स्त्री अधिक योग्य है। मेरा विश्वास है कि जिस प्रकार पाशविकता का परिचय देने में स्त्री की अपेक्षा पुरुष अधिक श्रेष्ठ है, उसी प्रकार आत्म-बलिदान में स्त्री पुरुष की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है।"]

"हाल के युरोपीय सङ्कट पर आपने जो लेख लिखे हैं, वे मैंने बड़े हर्ष के साथ पढ़े हैं। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि अब आप युरोपवालों से भी अपनी बात कहें। जब मानवता विनाश के खड्ड के निकट खड़ी है, तब आप अपने को कैसे रोक सकते हैं?

"क्या संसार आपकी सुनेगा? प्रश्न यह है।

"इंग्लैण्ड से मित्रों के जो पत्र मिले हैं, उनसे मालूम पड़ता है कि उस भयङ्कर सप्ताह में वहाँ के लोग निस्सन्देह बड़ी यातना से गुजर रहे थे। मुझे यकीन है कि यह बात सारे संसार पर लागू होती है। आधुनिक लड़ाई ने बहुत से शैतानी अस्त्र-शस्त्र आविष्कृत किये हैं, जिसके फल-स्वरूप वह निर्दयता से जन-संहार करती तथा पाशविकता फैलाती है। ऐसी लड़ाई का ध्यान आने पर निश्चय ही बहुत से लोग जिस प्रकार चिन्ता-मग्न हो गये थे, उतने वे कभी नहीं हुए थे। एक अंग्रेज सखी लिखती है: 'जिस समय यह खबर मिली कि लड़ाई टल गई है, उस समय किस प्रकार प्रत्येक आदमी ने सन्तोष की साँस ली थी। और प्रत्येक हृदय ने ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रकट की थी. यह बात जब तक मैं

जिन्दा रहूँगी कभी नहीं भूलूँगी।' फिर भी क्या अकथनीय कष्ट उठाने का डर तथा अपने प्रियजनों से बिछुड़ जाने का भय ही लड़ाई से घृणा करने का असली कारण है? क्या हम एक राष्ट्र का अपमान होकर भी लड़ाई टल जाने पर खुश हैं? यदि हम से मर्यादा की रक्षा के लिए बलिदान माँगा जाता तो क्या हम कुछ और न सोचते? क्या हम लड़ाई से इसलिए घृणा करते हैं, क्योंकि हम अनुभव करते हैं कि यह झगड़े तय करने का ग़लत ढङ्ग है, अथवा अपने भय के कारण ही हम लड़ाई से घृणा करते हैं। यदि लड़ाई को पृथ्वी पर से मिटाना है तो इन प्रश्नों का ठीक ढङ्ग से उत्तर दिया जाना चाहिए।

"अब जब सङ्कट दूर हो गया है तो भी हम क्या देखती हैं? शस्त्रीकरण की तथा युद्ध होने पर सभी साधनों—नर, नारी, धन, कारीगरी, प्रतिभा—सभी का सङ्गठन करने की पहले से भी अधिक होड़ाहोड़ लगी है। कहीं से यह दृढ़ घोषणा नहीं होती है कि 'युद्ध नहीं होगा।' क्या इससे यह सूचित नहीं होता कि युद्ध चाहे आज के लिए टल गया हो पर उसका ख़तरा हमारे सिर पर मँडरा रहा है?

'एक स्त्री होने के नाते मुझे यह सोचकर दुःख होता है कि मेरी बहिनों को विश्वशान्ति में अपने स्वभाव तथा अपने विशेषाधिकार के नाते जितना योग देना चाहिए था, उतना उन्होंने नहीं दिया है। जब मैं पढ़ती हूँ कि स्त्रियों की सहायक सेना का सङ्गठन किया जा रहा है, युद्धक्षेत्र में तथा युद्धक्षेत्र के पीछे काम में हाथ बँटाने के लिए स्त्रियों का सञ्चालन किया जा रहा है तथा वे स्वेच्छा से ऐसे कामों के लिए भरती हो रही हैं तो मुझे दुःख होता है। फिर भी जब लड़ाई आती है तो सब से अधिक कसक स्त्रियों के हृदय में होती है, सबसे अधिक घाव स्त्रियों के हृदय पर लगता है, जो कभी भर नहीं पाता। सारी बातें गोलमाल दिखाई पड़ती हैं। हमने क्यों नहीं सारे युगों के लिए उत्तम मार्ग चुना? हमने क्यों बिना प्रतिवाद के कराल, आत्मविहीन, पशु-बल के सामने घुटने टेक दिये? हमारे आध्यात्मिक विकास पर यह एक दुःखद प्रकाश

है। हम अपने महत् उद्देश्य को समझ सकने में विफल हुई हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि यदि स्त्रियों को अहिंसा की शक्ति और उसके गौरव की हार्दिक जानकारी हो जाय तो सारा संसार ठीक मार्ग पर आ जायगा।

"आप क्यों नहीं हम भारत की नारियों को स्फूर्ति प्रदान करके सङ्गठित करते? आप क्यों नहीं हम लोगों को अपना 'साधन' बना लेते? मेरे मन में कितनी बार आया है कि क्या अच्छा होता यदि आप इस काम के लिए सारे हिन्दुस्तान का दौरा करा करते? मुझे विश्वास है कि आपको आश्चर्यजनक सहयोग मिलेगा, क्योंकि भारत की नारियों का हृदय शुद्ध है और शायद सारे संसार में और किसी देश की स्त्रियों के पास आत्म-बलिदान और आत्म-विस्मृति का ऐसा उत्तम उदाहरण नहीं है, जैसा हमारे पास है। यदि आप हमें भी किसी लायक बना दें तो शायद हम अपने विनम्र ढङ्ग से शोकाकुल और दुःखी संसार को शान्ति का मार्ग दिखा सकें—कौन जानता है?"—एक स्त्री।

मैं कुछ हिचक के साथ यह पत्र प्रकाशित कर रहा हूँ। पत्रलेखिका ने स्त्रियों के हृदय को आन्दोलित कर सकने की मेरी शक्ति में जो विश्वास प्रकट किया है, उससे मुझे अपने ऊपर भरोसा होता है। पर मुझमें इतनी विनम्रता है कि मैं अपनी सीमाएँ देख सकूं। मुझे मालूम पड़ता है कि मेरे दौरा कर सकने के दिन गये। लिखकर जो कुछ मैं कर सकता हूँ, करता रहूँगा। पर मूक प्रार्थना की सामर्थ्य में मेरा विश्वास बढ़ता जा रहा है। यह स्वयं एक कला है—शायद सबसे ऊँची कला है, जिसमें बहुत ही तीव्र अभ्यास की आवश्यता पड़ती है। मैं भी इस बात में विश्वास करता हूँ कि अहिंसा को सर्वोच्च और सर्वोत्तम रूप में प्रकट करना स्त्रियों का ईश्वर-निर्मित कार्य है। पर इसके लिए एक पुरुष क्यों स्त्रियों के हृदय को आन्दोलित करे? यदि यह प्रार्थना मुझसे पुरुष होने के नाते नहीं, बल्कि सार्वजनिक रूप में अहिंसा का व्यवहार करने का (कथित) सर्वोत्तम पथप्रदर्शक होने के नाते की गई है तो मुझे इस मत का भारत की स्त्रियों को उपदेश देने का जरा भी उत्साह नहीं होता।

मैं पत्र लेखिका को विश्वास दिलाता हूँ कि मुझमें आपकी प्रार्थना को स्वीकार करने की जरा भी अनिच्छा नहीं है। मेरा ख्याल है कि यदि कांग्रेस के भीतर के पुरुषों का अहिंसा पर विश्वास अटल रहेगा और अहिंसा के कार्यक्रम को ईमानदारी से तथा पूरी तौर से पूरा करेंगे तो स्त्रियाँ स्वभावतया इस मत की पोषक हो जायँगी। और सम्भव है कि उनमें से कोई स्त्री, जितनी मैं आशा कर सकता हूँ उससे भी कहीं अधिक, आगे जाने में समर्थ हो सके, क्योंकि अहिंसा के पथ पर नई खोज करने तथा साहसपूर्ण कदम उठाने के लिए पुरुष की अपेक्षा स्त्री अधिक सुयोग्य है। मेरा विश्वास है कि जिस प्रकार पाशविकता का परिचय देने में स्त्री की अपेक्षा पुरुष अधिक श्रेष्ठ है, उसी प्रकार आत्म-बलिदान में स्त्री पुरुष की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है।

हरिजन, ५ नवम्बर, १९३८]

[३]

स्त्रियों का दर्जा

—+•+—

१. स्मृतियों में स्त्री का स्थान

["यह सो[illegible] दुःख होता है कि स्मृतियों में ऐसे श्लोक हैं जिनपर उन पु[illegible] नहीं हो सकती जो अपनी ही भाँति स्त्री की स्वाधीनता की कामना करते हैं और उसे समस्त जाति की माता मानते है।"]

एक सज्जन ने बेजवाड़ा से प्रकाशित होनेवाले 'इण्डियन स्वराज' का एक अङ्क मेरे पास भेजा है। इसमें स्मृतियों में स्त्रियों की स्थिति पर एक लेख है। इस लेख में बिना कुछ परिवर्तन किये निम्न उद्धरण दे रहा हूँ :—

पत्नी को चाहिए कि वह पति को सदैव परमेश्वर के रूप में माने, चाहे वह चरित्रहीन, कामी और असदाचारी ही हो। (मनु, ५–१५४

स्त्रियों को अपने पतियों के कहने के अनुसार चलना चाहिए। यह उनका सबसे बड़ा कर्त्तव्य है। (याज्ञवल्क्य, १–१८)

स्त्री के लिए कोई अलग यज्ञ अथवा उपवास नहीं है। उसे अपने पति की सेवा से स्वर्गलोक में ऊँचा स्थान मिलता है। (मनु. ५–१४५)

जो स्त्री अपने पति के जीवित रहते उपवास और यज्ञ करती है वह ऐसा करके अपने पति का जीवन कम करती है। वह नरक जाती है। जो स्त्री पवित्र जल की कामना करती है उसे चाहिए कि वह अपने पति के चरण अथवा उसका सारा शरीर जल से धोये और उस जल को पिये। ऐसी स्त्री को सबसे ऊँचा स्थान मिलता है। (ऐतरेय, १३६–१३७)

स्त्री के लिए अपने पति से बढ़कर कोई ऊँचा लोक नहीं है। जो स्त्री अपने पति को खुश नहीं रखती वह मृत्यु के बाद पति-लोक को नहीं जा सकती। इसलिए उसे अपने पति को कभी अप्रसन्न न करना चाहिए। (वशिष्ठ, २१–१४)

जो स्त्री अपने पिता के परिवार पर गर्व करती है और अपने पति की आज्ञा का उल्लंघन करती है, राजा को चाहिए कि उसे बहुत-से लोगों के सामने कुत्ते से नुचवावे। (मनु, ८–३७१)

जो स्त्री अपने पति की आज्ञा का उल्लंघन करती है उसके हाथ का खाना किसी को नहीं खाना चाहिए। ऐसी स्त्री को इन्द्रिय-लोलुप मानना चाहिए। (आङ्गिरस, ६६)

यदि पति दुराचारी हो अथवा मद्यप हो अथवा शारीरिक व्याधि से पीड़ित हो और पत्नी उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन करे तो उसे तीन महीने तक अपने बहुमूल्य कपड़ों और गहनों से वञ्चित रखना चाहिए। (मनु, १०–७८)

यह सोचकर दुःख होता है कि स्मृतियों में ऐसे श्लोक हैं, जिनपर उन पुरुषों की श्रद्धा नहीं हो सकती जो अपनी ही भाँति स्त्री की स्वाधीनता की कामना करते हैं और उसे समस्त जाति की माता मानते हैं। दुःख यह सोचकर और बढ़ जाता है कि सनातनियों की ओर से प्रकाशित होने वाले एक पत्र में ये श्लोक इस प्रकार छपे हैं जैसे वे धर्म के अङ्ग हों। स्वभावतः स्मृतियों में ऐसे श्लोक हैं जो स्त्री को उसका उचित स्थान प्रदान करते हैं और उसे बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। प्रश्न उठता है कि उन स्मृतियों का क्या किया जाय, जिनमें ऐसे श्लोक हैं जो उन्हीं में दिये हुए अन्य श्लोकों के विपरीत और नैतिक भावना के विरुद्ध हैं। मैं इन पृष्ठों में अनेक बार लिख चुका हूँ कि धर्मग्रन्थों के नाम पर जो कुछ छपता है, उसमें सभी को ईश्वर की वाणी अथवा देव-वाणी के रूप में नहीं लेना चाहिए। लेकिन हर कोई यह तय नहीं कर सकता कि कौन-सी बात अच्छी और प्रामाणिक है तथा कौन-सी बात बुरी और

प्रक्षिप्त है। इसलिए एक ऐसी अधिकारी संस्था की आवश्यकता है, जो धर्मग्रन्थों के नाम पर जो सब छपा है, उसका संशोधन करे, ऐसे श्लोकों की काट-छाँट दे जिनका कोई मूल्य नहीं है और जो धर्म और नीति के मूल के विरुद्ध हैं तथा ऐसा संस्करण हिन्दुओं के पथ प्रदर्शन के लिए उपस्थित करे। यह विचार इस पवित्र कार्य के मार्ग में बाधक न होना चाहिए कि सर्वसाधारण हिन्दू और धार्मिक नेता माने जाने वाले व्यक्ति ऐसी संस्था की बात प्रामाणिक नहीं मानेंगे। जो काम सचाई से और सेवा भाव से किया जायगा वह समय बीतने पर अपना प्रभाव डालेगा और निश्चय ही उन लोगों की सहायता करेगा जो इस प्रकार की सहायता बुरी तरह चाहते हैं।

—हरिजन, २८ नवम्बर, १९३६]

२. स्त्रियों का स्थान

["स्त्रियों के अधिकार के बारे मे मैं ज़रा भी झुकने को तैयार नहीं हूँ। मेरे मतानुसार कानून को स्त्री और पुरुष के बीच किसी भी प्रकार की असमानता नहीं रखनी चाहिए।"]

एक बहिन, जो अब तक स्वेच्छा से कुमारी रही हैं, लिखती हैं :—

"कल मलबारी भवन में स्त्रियों की एक सभा थी, जिसमें अनेक भाषण किये गये थे और प्रस्ताव भी पास हुए थे। विचारणीय विषय शारदा बिल था। ब्याहने के सम्बन्ध में लड़कियों की कम से कम अठारह वर्ष की उम्र के आप पक्षपाती हैं, यह जानकर हमें प्रसन्नता हुई है। इस सभा में एक और दूसरा महत्व का प्रस्ताव उत्तराधिकार-सम्बन्धी कानून पर था। इस विषय पर आप 'यङ्ग इण्डिया' अथवा 'नवजीवन' में एक कड़ा लेख लिखें तो वह हमारे लिए अनेक रूप में सहायक हो जायगा। मुझे तो यह समझ ही नहीं पड़ता कि अपने जन्मसिद्ध अधिकार वापस पाने के लिए हमें भीख क्यों माँगनी पड़े?

पुरुष को अपनी जननी को 'अबला' कहना और स्त्रियों के छीने हुए अधिकार उन्हें वापस देते समय उदारता का अभिनय करना तथा बड़ी-बड़ी बातें बघारना, कितना विचित्र, दुःखद और हास्यजनक है। जिन अधिकारों को पुरुष ने अन्यायपूर्वक, केवल अपने पशुबल से छीना है उन्हें वापस लौटाने में कौन सी उदारता और आदर्श है? स्त्री पुरुष से किस बात में घटकर है, जिससे विरासत में उसका भाग पुरुष से कम हो? वह बराबर क्यों नहीं होना चाहिए? दो एक दिन पहले हम इस विषय पर खूब ज़ोरों से विचार कर रही थीं। एक बहिन ने कहा हम कानून में परिवर्तन नहीं चाहतीं। हम अपनी वर्तमान दशा में सन्तुष्ट हैं, लड़का कुटुम्ब की परम्परागत प्रथाओं की और उसकी प्रतिष्ठा की रक्षा करता है। कुटुम्ब का आधार भी वही होता है। अतएव न्यायतः विरासत का अधिकांश उसी को मिलना चाहिए। इसी समय पास ही खड़ा हुआ एक नवयुवक बोल उठा—लड़की की चिन्ता आप क्यों करती हैं; उसका पति उसकी रक्षा कर लेगा। बस, जहाँ-तहाँ यही एक पुकार है—पति, पति। यह 'पति' तो एक महान विपत्ति हो गया है। पता नहीं क्यों, यह अनिवार्य अङ्ग समझा जाता है? और कन्या के सम्बन्ध में तो लोग इस ढङ्ग से बातें करते हैं मानों वह धन की कोई गठरी हो। माँ-बाप तभी तक उसकी रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं, जब तक उसका वह 'पति' आकर उसे अपने अधिकार में नहीं ले लेता। उसके बाद तो मानों माँ-बाप लड़की की रक्षा के भार से अपने को मुक्त समझ बैठते हैं। सचमुच ही आप अगर लड़की के रूप में पैदा हुए होते तो यह सब देखकर आपका खून खौल उठता।"

पुरुष स्त्री जाति पर जो अत्याचार कर रहे हैं, उन्हें देखकर खून खौलने के लिए मुझे लड़की के रूप में पैदा होने की आवश्यकता नहीं है। मेरे विचार में, विरासत-सम्बन्धी कानून इन अत्याचारों की दृष्टि से निर्मूल्य है, नगण्य है। शारदा बिल जिस गन्दगी को दूर करने का प्रयत्न करता है, वह गन्दगी विरासत सम्बन्धी अत्याचारों से कहीं अधिक

भयङ्कर और गम्भीर है। लेकिन स्त्रियों के अधिकार के बारे में मैं ज़रा भी झुकने को तैयार नहीं हूँ। मेरे मतानुसार कानून को स्त्री और पुरुष के बीच किसी भी प्रकार की असमानता नहीं रखनी चाहिए। हमें लड़के और लड़की के बीच किसी तरह का भेद भाव नहीं करना चाहिए। जैसे-जैसे स्त्री जाति को शिक्षा-द्वारा अपनी शक्ति का भान होता जायगा, वैसे वैसे उसके साथ, आज जो असम व्यवहार किया जाता है, उसका अधिकाधिक उग्र विरोध होगा। लेकिन पक्षपात से भरे कानूनों के सुधार से इस स्थिति में बहुत थोड़ा परिवर्तन होगा। इस व्याधि की जड़, जैसा कि लोग समझते हैं उससे कहीं अधिक, गहरी है। पुरुष का सत्ता और कीर्ति के लिए लोलुप होना इसका मूल कारण है और इससे भी बढ़कर कारण स्त्री-पुरुष की परस्पर विषय-वासना है। दूसरे, पुरुष मरने के बाद अपनी कल्पित अमरता की अपेक्षा रखता है, अतएव अगर सब सन्तानों में समान रूप से सम्पत्ति का बँटवारा हो जाय तो वह टुकड़े-टुकड़े हो जाय और इस कारण पुरुष का नाम अमर न रह सके। इसी भय से बड़े लड़के को सारी सम्पत्ति नहीं तो उसका बड़ा भाग विरासत में अवश्य मिलना चाहिए, इस आशय का कानून बना है। लेकिन यहाँ यह न भूलना चाहिए कि अधिकांश स्त्रियाँ विवाहित होती हैं और कानून उनके विरुद्ध होते हुए भी वे अपने पतियों की सत्ता और अधिकार में पूरी तरह हाथ बँटाती हैं तथा अपने को अपने श्रीमान् पति की श्रीमती अमुक कहलाने में आनन्द और गर्व का अनुभव करती हैं। अतएव सैद्धान्तिक चर्चा के समय पक्षपात भरे कानून के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी परिवर्तनों के लिए भले ही वे अपना मत दें, लेकिन जब तदनुसार आचरण का अवसर आता है तब वे अपनी सत्ता और अपने अधिकार को छोड़ना नहीं चाहतीं।

इस कारण यद्यपि मैं इस बात का हमेशा से समर्थक रहा हूँ कि स्त्री जाति पर से कानून के सारे बन्धन हटा दिये जाने चाहिएँ, तथापि जब तक भारत की पढ़ी-लिखी, सुशिक्षित बहिनें इस व्याधि के मूल कारण

को मिटाने के लिये प्रयत्न नहीं करतीं, तब तक जरा मुश्किल है। मैं उनसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि वे इसके लिए प्रयत्न करें। मेरे मन में तो स्त्री त्याग और तपश्चर्या की साक्षात् मूर्ति है। सार्वजनिक जीवन में उसके प्रवेश से दो फल होने चाहिएँ: एक वातावरण की पवित्रता और दूसरा, पुरुष के सम्पत्ति-संग्रह के लोभ पर अंकुश का रहना। उन्हें जानना चाहिए कि लाखों के पास तो विरासत में छोड़ जाने योग्य कोई सम्पत्ति ही नहीं होती। इन लाखों से श्रीमन्त वर्ग की स्त्रियों को यह सीखना चाहिए कि सम्पत्ति की विरासत स्वेच्छा से छोड़ने और अपने उदाहरण-द्वारा दूसरों से छुड़वाने में ही उनका श्रेय है। माता पिता अपनी सन्तान को जो चीज समान रूप से विरासत में दे सकते हैं वह तो सिर्फ चारित्र्य और शिक्षा के साधन ही हैं। अतएव माता पिता को चाहिए कि वे अपनी सन्तान को स्वावलम्बी बनावें, जिससे स्वयं परिश्रम करके वे पवित्र जीवन बिता सकें। बड़े वारिस को अपने नन्हे भाई बहनों के पालन-पोषण का भार उठा लेना चाहिए। अगर धनिक वर्ग के लोग अपने बच्चों को स्वावलम्बन की शिक्षा देने लग जायँ और उन्हें विरासत के गुलाम बनाने वाले मिथ्या मोह से बचालें, जिसके कारण वे व्यसनी, उत्साह-हीन और निर्वीर्य जीवन बिताने में प्रवृत्त होते हैं, तो जो तेजहीनता और बुद्धिमन्दता आज उनकी सन्तानों में पाई जाती है वह बहुत-कुछ दूर हो जाय। युगों से चली आती हुई इस गन्दगी का नाश करना सुशिक्षित स्त्रियों का ही धर्म है।

पारस्परिक विषय-वासना ने स्त्री-जाति की पराधीनता को जिस हद तक पहुँचाया है, उसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। स्त्री ने कितने ही सूक्ष्म उपायों से अपनी आकर्षण-शक्ति का उपयोग पुरुष से अप्रत्यक्ष रूप में उसकी सत्ता छीन लेने के लिए किया है। पुरुष उसके इस प्रयत्न को निष्फल करने की सदा चेष्टा करता रहा है, लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। फलस्वरूप यह कहना अनुचित न होगा कि दोनों-के-दोनों गड्ढे में गिरे हैं। इस गम्भीर परिस्थिति को सुलझाने का

प्रयत्न भारतवर्ष की सुशिक्षित बहिनों को करना चाहिए। पाश्चात्य रीति रिवाजों की, जो हमारी परिस्थिति के प्रतिकूल हैं, नकल करने से हम समस्या को हल नहीं कर सकेंगे। हमें भारत की परिस्थिति और अपने राष्ट्रीय स्वभाव के अनुकूल उपायों की योजना करनी चाहिए। बहिनों का कर्त्तव्य है कि वे वातावरण शुद्ध रक्खें, अपने निश्चय को दृढ़ और अटल बनावें, दिग्मूढ़ता के दोष से बचें, अपनी सभ्यता और संस्कृति के सर्वोत्तम तत्त्व का पोषण करें और उसके दोषों को दूर करें। यह काम सीता, द्रौपदी, सावित्री, दमयन्ती आदि के समान प्रातःस्मरणीया सतियों के जन्म धारण करने से ही हो सकता है, धाँधलीबाजी से या आधिकारिक आंदोलन चलने से कदापि नहीं हो सकता।

[हिन्दी नवजीवन, ७-२-१९२९]

[४]

अन्तर्जातिय विवाहों की ओर

१. ऐसी मुसीबत, जिससे बच सकते हैं

["जात-पाँत की और प्रान्त की दोहरी दीवार अवश्य ही तोड़ जानी चाहिए। यदि भारत एक और अखण्ड है तो निश्चय ही उसमें ऐसे कृत्रिम विभाग नहीं रहने चाहिएँ, जिनसे अनगिनत ऐसे छोटे-छोटे दल उपजते हैं जो आपस में खान-पान का तथा शादी ब्याह का सम्बन्ध नहीं रखते।"]

एक सज्जन ने अपनी कष्ट-कहानी से भरा हुआ एक लम्बा पत्र भेजा है, जिसमें वह लिखते हैं :—

"मैं एक स्कूल-मास्टर हूँ (६७ बरस उम्र है) और मेरी सारी जिन्दगी (४६ साल) इसी काम में बीती है। मैंने बंगाल के एक गरीब, लेकिन बहुत ही प्रतिष्ठित, कायस्थ परिवार में जन्म लिया है। मेरा परिवार पहले बहुत सम्पन्न था, पर अब उसे ग़रीबी ने आ घेरा है। परमात्मा की कृपा से (?)* मेरे ७ लड़कियाँ और २ लड़के हैं। सब से बड़ा लड़का २० बरस का होकर गत अक्तूबर में चल बसा, और हमें रोने-पीटने के लिए दुखी और असहाय छोड़ गया। वह एक होनहार युवक था और मेरे जीवन की एकमात्र आशा था। मेरी ७ लड़कियों में से ५ के विवाह तो हो चुके हैं। मेरी छठीं और सातवीं लड़कियां (जिनकी उम्र १८ और १६ बरस है) अभी तक अविवाहित हैं। मेरा छोटा लड़का ११ बरस का नाबालिग़ है। मेरा वेतन ६०) है। इसमे

* प्रश्न-चिह्न पत्र-लेखक का है।

मेरी गुज़र बड़ी कठिनाई से होती है। मैं कुछ भी रुपया बचा नहीं सका हूँ। कर्ज़दार होने के कारण मेरी अवस्था अकिञ्चन से भी गई बीती है। छठी लड़की के लिए लड़का तय कर लिया है। ब्याह में ज़ेवर और दहेज मिलाकर ९००) से कम नहीं खर्च होगा, जिसमें से ३००) तो दहेज में खर्च हो जायगा। कनाडा की 'सन लाइफ एश्योरेंस' में मैंने २,०००) का आजीवन बीमा करा रखा है। १९१४ में मैंने बीमा कराया था। कम्पनी मुझे केवल ४००) कर्ज़ देने के लिए राजी हुई है। मुझे जितना रुपया चाहिए, उसका यह आधा है। बाकी आधा रुपया इकट्ठा करने में मैं एकदम असहाय हूँ। क्या आप आधा रुपया देकर इस गरीब पिता की सहायता नहीं कर सकते?"

इस तरह के बहुत से पत्र मेरे पास आते रहते हैं। अधिकाश पत्र हिन्दी में लिखे रहते हैं। हम जानते है कि अंग्रेजी शिक्षा ने कन्याओं के माता पिताओं की हालत सुधार नहीं दी है, बल्कि कई मामलों में तो उनकी हालत बदतर हो गई है, क्योंकि अंग्रेजी पढ़े लिखे बाप की अंग्रेजी पढ़ी-लिखी कन्या के लिए जैसा योग्य वर चाहिए, उसका बाजार भाव बहुत बढ़ा चढ़ा होता है।

इन बंगाली पिता-जैसे मामले में सर्वोत्तम सहायता आवश्यक रकम का कर्ज अथवा दान नहीं होगी, बल्कि यह होगी कि माता पिता को समझा बुझाकर इस बात के लिए प्रेरित किया जाय कि वे अपनी लड़की के लिए वर खरीदने से इन्कार कर दें और ऐसा वर चुनें अथवा लड़की को चुनने का अवसर दें जो उससे रुपये के लिए नहीं, वरं प्रेम के लिए ब्याह करेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वेच्छा से वर के चुनाव का क्षेत्र बढ़ाया जाय। जात पाँत की और प्रान्त की दोहरी दीवार अवश्य ही तोड़ी जानी चाहिए। यदि भारत एक और अखण्ड है तो निश्चय ही उसमें ऐसे कृत्रिम विभाग नहीं रहने चाहिएँ, जिनसे अनगिनती छोटे-छोटे दल उपजते हैं, जो आपस में खान-पान का तथा शादी ब्याह का सम्बन्ध नहीं रखते। इस निर्दय प्रथा का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह

दलील देने से काम नहीं चलेगा कि इसकी शुरुआत व्यक्तियों से नहीं हो सकती. इसलिए जब तक सारा समाज परिवर्तन के पक्ष में न हो जाय तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। कोई भी सुधार तभी हुआ है, जब साहसी व्यक्तियों ने समाज में प्रचलित असमानवीय प्रथाएँ और रस्म स्वयं ही तोड़ डाली हैं। यदि स्कूलमास्टर और उनकी लड़कियां विवाह को एक पवित्र सम्बन्ध के बजाय, जैसा कि निश्चित रूप से है, एक बाजारू सौदा मानने से इन्कार करदें तब आखिर स्कूलमास्टर को कौन अधिक कठिनाई झेलनी पड़ेगी? इसलिए मैं उन्हें यही सलाह दूँगा कि वह साहसपूर्वक कर्ज लेने या भीख माँगने का विचार छोड़दें और अपनी लड़की की सलाह से उसके लिए उपयुक्त पति का चुनाव करलें, फिर चाहे वह किसी भी जाति या प्रान्त का हो, और इस प्रकार उन चार सौ रुपयों को भी बचा लें, जो अपने आजीवन बीमे से वह पा सकते हैं।

— हरिजन, २५ जुलाई, १९३६]

२. लड़की को क्या चाहिए

["जिन वर्गों में सुशिक्षित नवयुवक लड़कियों से शादी का प्रस्ताव मंजूर करने के लिए कीमत माँगते हैं, उनमें 'योग्यता' की जो परिभाषा है, वह यदि कुछ अधिक अक्ल से बनाई गई होती तो लड़कियों के लिए उपयुक्त वर चुनने की कठिनाई पूरी तौर से नहीं तो काफ़ी अवश्य घट जाती।"]

एक महिला लिखती हैं :—

"आपका 'ऐसी मुसीबत जिससे बच सकते हैं' शीर्षक लेख मुझे अधूरा-सा लगता है। माता-पिता अपनी लड़कियों को शादी करने का आग्रह ही क्यों करें और इसके लिए ऐसी अकथनीय मुसीबतें क्यों

उठायें ? अगर माता-पिता अपनी लड़कियों को भी लड़कों की तरह शिक्षा देने लग जायँ, जिससे वे अपनी स्वतन्त्र आजीविका कमाने के योग्य हो सकें, तो उन्हें अपनी लड़कियों के लिए वर खोजने की इतनी चिन्ताएँ न करनी पड़ें। मेरा निजी अनुभव तो यह है कि जब लड़कियों को अपनी मानसिक उन्नति का अवसर मिल जाता है और वे मर्यादा के साथ अपना भरण-पोषण करने के लायक हो जाती हैं, तब उन्हें, शादी की इच्छा होने पर अपने लायक वर तलाश करने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। मेरे कहने का यह अर्थ न लगाया जाय कि मैं लड़कियों को आजकल की तथोक्त उच्च शिक्षा देने की सिफारिश कर रही हूँ। मैं जानती हूँ कि वह हजारों लड़कियों के लिए सम्भव नहीं है। मेरे कहने का मतलब यह है कि लड़कियों को उपयोगी ज्ञान के साथ किसी ऐसे धन्धे की शिक्षा दी जाय जिससे उन्हें संसार में अपने पैरों पर खड़ी हो सकने की अपनी योग्यता का पूरा विश्वास हो जाय और वे अपने को अपने माता-पिता की या भविष्य में अपने पति की आश्रिता अनुभव न करें। मैं तो ऐसी कुछ लड़कियों को जानती भी हूँ, जो अपने-अपने पति-द्वारा परित्याग कर दिये जाने पर आज फिर अपने पतियों के साथ मर्यादित जीवन व्यतीत कर रही हैं। क्योंकि परित्यक्तावस्था में सौभाग्य से वे स्वाश्रयी भी बन गई थीं और उन्हें उपयोगी शिक्षा पाने का अवसर मिल गया था। मैं चाहती हूँ कि विवाह-योग्य कन्याओं के माता पिताओं को कठिनाइयों पर विचार करते समय आप सवाल के इस पहलू पर ज़ोर दें तो बड़ा अच्छा हो।"

पत्र-प्रेषिका ने जो विचार प्रकट किये हैं, मैं उनका हृदय से समर्थन करता हूँ। मैं तो एक ऐसे पिता के मामले पर विचार कर रहा था, जिसने अपने को मुसीबत में डाल लिया था, इसलिए नहीं कि उनकी लड़की अयोग्य थी, बल्कि इसलिए कि वे और शायद उनकी लड़की भी वर का चुनाव अपनी ही जाति के छोटे से दायरे में करना चाहते थे। इस मामले में तो लड़की का सुयोग्य होना ही बाधक हो रहा था।

अगर लड़की निरक्षर होती तो वह अपने को हर किसी नवयुवक के योग्य बना लेती। पर चूँकि वह स्वयं सुशिक्षिता थी, इसलिए उसके लिए उसी के समान सुयोग्य वर की आवश्यकता थी। हमारा यह दुर्भाग्य है कि किसी लड़की से शादी करने के लिए क़ीमत के बतौर रुपये माँगने की नीचता निश्चित रूप से बुराई नहीं समझी जाती। कालेज की अंग्रेजी शिक्षा को खामख्वा कृत्रिम महत्व प्रदान कर दिया गया है। वह बहुत से पापों को ढक लेती है। जिन वर्गों में सुशिक्षित नवयुवक लड़कियों से शादी का प्रस्ताव मंजूर करने के लिए कीमत माँगते हैं, उनमें यदि 'सुयोग्यता' की परिभाषा कुछ अधिक अक्ल से बनाई गई होती तो लड़कियों के लिए उपयुक्त वर चुनने की कठिनाई पूरी तौर से नहीं तो काफ़ी घट अवश्य जाती। इसलिए एक ओर जब कि मैं इन माता पिताओं से इन पत्र-प्रेषक महिला के विचारों पर ध्यान देने की सिफ़ारिश करता हूँ तो दूसरी ओर इस बात पर भी जोर दूँगा कि जात-पाँत के महान् हानिकारी बन्धन तोड़ डाले जायँ। इन बन्धनों के तोड़ने पर चुनाव के लिए एक विशाल क्षेत्र हो जायगा और इस प्रकार यह पैसे ठहराने की बुराई बहुत हद तक अपने-आप कम हो जायगी।

—हरिजन, ५ सितम्बर, १९३६।

३. स्त्रियाँ और वर्णधर्म

["वर्ण से अधिकारों तथा विशेषाधिकारों की किसी राशि का बोध नहीं होता, वर्ण तो कर्त्तव्यों तथा स्वधर्म का निर्देश करता है। जो स्त्री अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान रखती है और उनका पालन करती है, वह अपनी गौरवमयी अवस्था को भलीभाँति समझती है। वह जिस गृहस्थी को चलाती है उसकी स्वामिनी होती है, दासी नहीं।"]

एक आदरणीय मित्र लिखते हैं :—

आपने 'हरिजन' में हाल में वर्ण पर जो लेख लिखे हैं, उनसे

मालूम पड़ता है कि वर्ण के सिद्धान्त की आपने जो अपूर्ण व्याख्या की है, वह शायद पुरुषों पर ही लागू होती है। तब स्त्रियों का क्या होगा? स्त्रियों का वर्ण कैसे जाना जायगा? शायद आप यह जवाब देंगे कि ब्याह से पहले स्त्री का वर्ण उसके पिता से और ब्याह के बाद पति से जाना जायगा। क्या यह समझ लिया जाय कि आप मनु की इस बद-नाम उक्ति का समर्थन करते हैं कि स्त्री को जीवन की किसी भी अवस्था में स्वाधीनता नहीं मिलनी चाहिए। ब्याह से पहले उसे अपने माता-पिता, ब्याह के बाद अपने पति के और वैधव्य की अवस्था में अपने पुत्रों के संरक्षण में रहना चाहिए?

"चाहे जो हो, यह बात प्रत्यक्ष है कि हमारा युग स्त्री के मताधिकार का युग है और स्वाधीन जीविकोपार्जन में उसका दर्जा भी पुरुषों के बराबर है। इसलिए आजकल यह बात साधारण-सी है कि स्त्री किसी स्कूल में अध्यापिका है तो उसका पति लेन-देन का रोजगार करता है। इन परिस्थितियों में स्त्री किस वर्ण की कहलायेगी? वर्णाश्रम धर्म के अनुसार पुरुष साधारणतया अपने पिता का रोज़गार, और इसलिए उसका वर्ण भी, ग्रहण करेगा, जब कि स्त्री अपने पिता का वर्ण ग्रहण करेगी, आशा की जा सकती है कि ब्याह के बाद भी दोनों अपने-अपने वर्ण पर दृढ़ रहेंगे। तब दोनों की सन्तान किस वर्ण की होगी? अथवा, आप यह प्रश्न सन्तति पर छोड़ देंगे कि वे अपनी स्वतन्त्र, स्वाधीन इच्छा से अपना वर्ण निश्चय करलें? ऐसी अवस्था में वर्ण के पैतृक आधार का क्या होगा, क्योंकि वर्णाश्रम धर्म का, जैसा आपने प्रतिपादन किया है, यह एक अङ्ग है?"

मेरी राय में आज जैसी परिस्थिति है, उसमें यह प्रश्न अप्रासङ्गिक है। जैसा कि मैं अपने लेखों में संकेत कर चुका हूँ, वर्णों की गड़बड़ी के कारण, आज वास्तव में कोई वर्ण नहीं है। वर्ण-सिद्धान्त अब लागू ही नहीं होता। हिन्दू समाज की वर्तमान अवस्था का वर्णन अराजकता कह-कर किया जा सकता है : आज चारों वर्ण केवल नाम के लिए रह गये हैं।

यदि हमें 'वर्ण' की दृष्टि से ही बातचीत करना है, तो आज सभों का, चाहे स्त्रियाँ हों, चाहे पुरुष, एक ही वर्ण है,—हम सब शूद्र हैं।

पुनर्गठित वर्ण-धर्म की मैं जैसी कल्पना करता हूँ, उसमें ब्याह से पहले कन्या उसी प्रकार अपने पिता के वर्ण की होगी, जिस प्रकार उसके भाई होंगे। विविध वर्णों के बीच अन्तर्जातीय विवाह बहुत ही कम होगा। इसलिए ब्याह के बाद भी लड़की का वर्ण खण्डित नहीं होगा। लेकिन अगर पति दूसरे वर्ण का होगा, तब ब्याह होने पर, वह स्वभाव तया उसके वर्ण की हो जायगी, और अपने पिता का वर्ण त्याग देगी। इस प्रकार के वर्ण परिवर्तन से किसी की बदनामी की बात अथवा किसी की भावनाओं को ठेस पहुँचाने की बात नहीं समझी जायगी, क्योंकि पुनर्गठित समाज में वर्णाश्रम धर्म में चारों वर्णों का सामाजिक दर्जा पूरे तौर से बराबर होगा।

नियमतः मैं स्त्री के लिए पति से स्वतन्त्र आजीविका की कल्पना नहीं करता। बच्चों का पालन-पोषण और गृहस्थी की देख-भाल उसकी सारी शक्ति के व्यय के लिए काफ़ी है। एक सुनियमित समाज में उस पर गृहस्थी के खर्च का प्रबन्ध करने का अतिरिक्त भार नहीं पड़ना चाहिए। पुरुष को गृहस्थी के खर्च का प्रबन्ध करना चाहिए और स्त्री को गृहस्थी का प्रबन्ध करना चाहिए। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के श्रम की पूर्ति करेंगे।

इससे मैं स्त्री के अधिकार पर किसी प्रकार का आक्रमण अथवा उसकी स्वाधीनता का दमन नहीं देखता। मनु के नाम पर जो उक्ति प्रचलित है कि 'स्त्री को कभी स्वाधीनता नहीं मिलनी चाहिए' उसे मैं अनुल्लङ्घनीय नहीं मानता। उससे केवल यही प्रकट होता है कि जिस समय वह कही गई थी उस समय स्त्रियाँ पराधीन रखी जाती थीं। हमारे ग्रन्थों में पत्नी के लिए 'अर्द्धाङ्गिनी' और 'सहधर्मिणी' विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। पति अपनी पत्नी को देवी सम्बोधित करता है, जिससे प्रकट होता है कि उसका दर्जा नीचा नहीं था। पर अभाग्य से, एक ऐसा

समय आया, जब स्त्री अपने बहुत से अधिकार और विशेषाधिकारों से वञ्चित कर दी गई और नीचे के दर्जे में उतार दी गई। लेकिन उसके वर्ण के पतित होने का कोई सवाल ही नहीं उठता। क्योंकि वर्ण से अधिकारों तथा विशेषाधिकारों की किसी राशि का बोध नहीं होता: वर्ण तो कर्त्तव्यों तथा स्वधर्म का निर्देश करता है। और हमें कोई भी अपने कर्त्तव्यों से वञ्चित नहीं कर सकता, जब तक हम स्वयं उनसे पीछे न हट जायें। जो स्त्री अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान रखती है और उनका पालन करती है, वह अपनी गौरवमयी अवस्था को भली-भाँति समझती है। वह जिस गृहस्थी को चलाती है, उसकी स्वामिनी होती है, दासी नहीं।

इसके बाद मेरे यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि समाज में स्त्रियों के कार्य-विभाग का मैंने जो वर्णन किया है वह अगर स्वीकार कर लिया जाय, तो सन्तान के वर्ण का प्रश्न फिर कोई समस्या नहीं उपस्थित करेगा, क्योंकि पति और पत्नी के वर्ण में कोई ऊँच नीच का भाव नहीं रहेगा।

— हरिजन, १२ अक्टूबर, १९३४

२६ मार्च, १९४२ के 'हरिजन सेवक' में निम्न प्रश्नोत्तर प्रकाशित हुआ था जिससे इस समस्या पर प्रकाश पड़ता है :—

प्रश्न—मैं मानता हूँ कि समाज की प्रगति के साथ विविध-धर्मावलम्बियों के बीच विवाहों की संख्या भी बढ़ेगी और उनका स्वागत करना होगा। आपका यह आग्रह ठीक ही है कि ऐसे स्त्री-पुरुषों को अपने व्यक्तिगत धर्म का त्याग न करना चाहिए। लेकिन उनकी सन्तान के बारे में आपका क्या विचार है? उनका पालन-पोषण किस धर्म के अनुसार किया जाय—माता के धर्म के अनुसार अथवा पिता के धर्म के अनुसार?

उत्तर—ऐसे विवाहों में यह मान लिया जाता है कि पति-पत्नी एक दूसरे के धर्म को आदर की दृष्टि से देखते हैं। यदि उनमें धार्मिकता होगी तो उनके बालक अनजाने ही उनके धर्माचरण में से जो सुन्दर लगेगा उसे अपनाते जायेंगे। और माता-पिता की ओर से कोई रुकावट न पाकर वे अपनी रुचि के धर्म को अङ्गीकार कर लेंगे। यदि पति-पत्नी ही में अपने धर्म के प्रति उदासीनता होगी तो बालक भी अधिकतर धर्म से उदासीन रहेंगे और जिसमें सहूलियत देखेंगे उसी को अपना धर्म बना लेंगे। इस प्रकार के विवाहों का परिणाम मैंने ऐसा ही होते देखा है। जब पति-पत्नी के बीच बच्चों के पालन-पोषण के बारे में तीव्र मतभेद पैदा हो जाता है, तभी कठिनाई पैदा होती है।

---

(५)

छात्राओं को सलाह

१. विद्यार्थियों के लिए लज्जाजनक

["आधुनिक लड़की एक से अधिक मजनुओं की लैला बनना पसन्द करती है। 'एडवेंचर'—दुस्साहसिकता—उसे प्रिय है।.. वह वायु, वर्षा या धूप से अपने बचाव के लिए नहीं बल्कि लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए वस्त्र धारण करती है। वह अपने को रँगकर प्रकृति-दत्त रूप को मात करना और इस प्रकार असाधारण दिखाना चाहती है। अहिंसा का मार्ग ऐसी लड़कियों के लिए नहीं है"]

पंजाब के एक कालेज की लड़की का एक अत्यन्त हृदयस्पर्शी पत्र करीब दो महीने से मेरी फाइल में पड़ा हुआ है। इस लड़की के प्रश्न का जवाब जो अभी तक मैंने नहीं दिया इसमें समय के अभाव का तो केवल एक बहाना था। किसी-न-किसी तरह इस काम से अपने को मैं बचा रहा था, हालाँकि मैं यह जानता था कि इस प्रश्न का क्या जवाब देना चाहिए। इस बीच में मुझे एक और पत्र मिला। यह पत्र एक ऐसी बहिन का लिखा हुआ है, जो बहुत अनुभव रखती है। मुझे ऐसा महसूस हुआ कि कालेज की इस लड़की की यह बहुत वास्तविक कठिनाई है, इसका हल करना मेरा कर्त्तव्य है, और अब मैं और अधिक दिनों तक उपेक्षा नहीं कर सकता। पत्र उसने शुद्ध हिन्दुस्तानी में लिखा है, जिसका एक भाग मैं नीचे उद्धृत कर रहा हूँ :—

"लड़कियों और वयस्क स्त्रियों के सामने, उनकी इच्छा के विरुद्ध,

ऐसे अवसर आ जाया करते हैं, जब कि उन्हें अकेली जाने की हिम्मत करनी पड़ती है। या तो उन्हें एक ही शहर में एक जगह से दूसरी जगह जाना होता है या एक शहर से दूसरे शहर को। और जब वे इस तरह अकेली होती हैं, तब गन्दी मनोवृत्तिवाले लोग उन्हें तङ्ग किया करते हैं। वे उस वक्त अनुचित और अश्लील भाषा तक का प्रयोग करते हैं। और अगर भय उन्हें रोकता नहीं है, तो इससे भी आगे बढ़ने में उन्हें कोई हिचकिचाहट नहीं होती। मैं यह जानना चाहती हूँ कि ऐसे मौक़ों पर अहिंसा क्या काम दे सकती है? हिंसा का उपयोग तो है ही। अगर किसी लड़की या स्त्री में काफी हिम्मत हो तो उसके पास जो भी साधन होंगे उन्हें वह काम में लायगी और एक बार बदमाशों को सबक़ सिखा देगी। वे कम-से-कम हङ्गामा तो मचा सकती हैं जिससे कि लोगों का ध्यान आकर्षित हो जाय और गुण्डे वहाँ से भाग जायँ। लेकिन मैं यह जानती हूँ कि इसके परिणाम-स्वरूप विपत्ति सिर्फ टल जायगी; यह कोई स्थायी इलाज नहीं है। अशिष्ट व्यवहार करने वाले लोगों का अगर आप-को पता है तो मुझे विश्वास है कि उन्हें समझाने पर वे आपकी प्रेम और नम्रता की बातें सुनेंगे। पर उस आदमी के लिए आप क्या कहेंगे, जो साइकिल पर चढ़ा हुआ किसी लड़की या स्त्री को देखकर, जिसके साथ कि कोई मर्द साथी नहीं हैं, गन्दी भाषा का प्रयोग करता है? उसे दलील देकर समझाने का आपको मौका नहीं है। आपके उससे फिर मिलने की कोई सम्भावना नहीं। हो सकता है आप उसे पहचानेंगे भी नहीं। आप उसका पता भी नहीं जानते। ऐसी परिस्थिति में वह बेचारी लड़की या स्त्री क्या करे? मैं अपना ही उदाहरण देकर आपको अपना अनुभव बताती हूँ। २६ अक्तूबर की रात की बात है। मैं अपनी एक सहेली के साथ, ७-३० बजे के करीब, एक ख़ास काम से जा रही थी। उस वक्त किसी मर्द साथी को साथ ले जाना नामुमकिन था; और काम इतना ज़रूरी था कि टाला नहीं जा सकता था। रास्ते में, एक सिख युवक साइकिल पर जा रहा था। वह कुछ गुनगुनाता जाता था। जबतक

कि हम सुन सकें उसने गुनगुनाना जारी रक्खा। हमें यह मालूम था कि वह हमें लक्ष करके ही गुनगुना रहा है। हमें उसकी यह हरकत बहुत नागवार मालूम हुई। सड़क पर कोई चहल-पहल नहीं थी। हमारे चन्द क़दम जाने से पहले वह लौट पड़ा। हम उसे फ़ौरन पहचान गईं, हालाँ कि वह अब भी हमसे काफी फ़ासले पर था। उसने हमारी तरफ़ साइकिल घुमाई। ईश्वर जाने, उसका इरादा उतरने का था, या यूँ ही हमारे पास से सिर्फ गुजरने का। हमें ऐसा लगा कि हम ख़तरे में हैं। हमें अपनी शारीरिक बहादुरी में विश्वास नहीं था। मैं एक औसत लड़की के मुकाबले शरीर से कमजोर हूँ; लेकिन मेरे हाथ में एक बड़ी-सी किताब थी। एकाएक किसी तरह मेरे अन्दर हिम्मत आगई। साइकिल की तरफ मैंने उस किताब को ज़ोर से मारा, और चिल्लाकर कहा, "चुहलबाज़ी करने की तू फिर हिम्मत करेगा?" वह मुश्किल से अपने को सँभाल सका और साइकिल की रफ़्तार बढ़ाकर वहाँ से रफ़ूचक्कर हो गया। अब अगर मैंने उसकी साइकिल की तरफ किताब ज़ोर से न मारी होती, तो वह अन्त तक इसी तरह अपनी गन्दी भाषा से हमें तङ्ग करता जाता। यह तो एक मामूली, बल्कि नगण्य-सी, घटना है; पर मैं चाहती हूँ कि आप लाहौर आते और हम हतभागिनी लड़कियों की मुसीबतों की दास्तान खुद अपने कानों सुनते। आप निश्चय ही इस समस्या का ठीक-ठीक हल ढूँढ़ सकते हैं। सबसे पहले आप मुझे यह बतायें कि ऊपर जिन परिस्थितियों का मैंने वर्णन किया है उनमें लड़कियाँ अहिंसा के सिद्धान्त का प्रयोग किस तरह कर सकती हैं, और कैसे अपने आपको बचा सकती हैं? दूसरे स्त्रियों को अपमानित करने की जिन युवकों को यह बहुत बुरी आदत पड़ गई है, उनको सुधारने का क्या उपाय है? आप यह उपाय न सुझाइएगा कि हमें उस नई पीढ़ी के आने तक इन्तजार करना चाहिए—और तबतक हम इस अपमान को चुपचाप बर्दाश्त करती रहें—जिस पीढ़ी ने कि बचपन से ही स्त्रियों के साथ भद्रोचित व्यवहार करने की शिक्षा पाई होगी। सरकार की या तो इस समा-

जिक बुराई का मुकाबला करने की इच्छा नहीं या ऐसा करने में वह असमर्थ है। और हमारे बड़े-बड़े नेताओं के पास ऐसे प्रश्नों के लिए वक्त नहीं। कुछ जब यह सुनते हैं कि किसी लड़की ने अशिष्टता से पेश आने वाले नवयुवकों की अच्छी तरह से मरम्मत कर दी है, तो कहते हैं, 'शाबाश, ऐसा ही सब लड़कियों को करना चाहिए।' कभी-कभी किसी नेता को हम विद्यार्थियों के ऐसे दुर्व्यवहार के खिलाफ लच्छेदार भाषण करते हुए पाते हैं; मगर ऐसा कोई नज़र नहीं आता, जो इस गम्भीर समस्या का हल निकालने में निरन्तर प्रयत्नशील हो। आपको यह जानकर कष्ट और आश्चर्य होगा कि दीवाली और ऐसे ही दूसरे त्यौहारों पर अखबारों में इस किस्म की चेतावनी की नोटिसें निकला करती हैं कि रोशनी देखने तक के लिए औरतों को घरों से बाहर नहीं निकलना चाहिए। इसी तरह एक बात से आप जान सकते हैं कि दुनिया के इस हिस्से में हम किस कदर मुसीबतों में फँसी हुई हैं। ऐसी-ऐसी नोटिसों को जो लिखते हैं, न तो वे ही कुछ शर्म खाते हैं, और न पढ़ने वाले ही कि ऐसी चेतावनियाँ क्या उन्हें निकालनी चाहिएँ ?"

एक दूसरी पंजाबी लड़की को मैंने यह पत्र पढ़ने के लिए दिया था। उसने भी अपने कालेज-जीवन के निजी अनुभव के आधार पर इस घटना का समर्थन किया। उसने मुझे बताया कि पत्र-लेखिका ने जो कुछ लिखा है, बहुत-सी लड़कियों का अनुभव वैसा ही होता है।

एक और अनुभवी महिला ने लखनऊ की अपनी छात्रा मित्रों के अनुभव लिखे हैं। सिनेमा थियेटरों में उनकी पिछली लाइन में बैठे हुए लड़के उन्हें दिक़ करते हैं, उनके लिए ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं, जिसे मैं अश्लील के सिवा और कोई नाम नहीं दे सकता। उन लड़कियों के साथ किये जाने वाले भद्दे मज़ाक भी पत्र-लेखिका ने मुझे लिखे हैं; लेकिन मैं उन्हें यहाँ उद्धृत् नहीं कर सकता।

अगर सिर्फ तात्कालिक निजी रक्षा का सवाल हो तो इसमें सन्देह नहीं कि उस लड़की ने, जो अपने को शारीरिक दृष्टि से कमजोर बताती

है, जो इलाज साइकिल के सवार पर जोर से किताब मारकर किया, वह बिल्कुल ठीक है। यह बहुत पुराना इलाज है। मैं 'हरिजन' में पहले भी लिख चुका हूँ कि यदि कोई व्यक्ति जबर्दस्ती करने पर उतारू होना चाहता है तो उसके रास्ते में शारीरिक कमजोरी भी रुकावट नहीं डालती, भले ही उसके मुकाबले में शारीरिक दृष्टि से कोई बहुत बलवान विरोधी हो। और हम यह भली-भाँति जानते हैं कि आजकल तो शारीरिक शक्ति का प्रयोग करने के इतने ज्यादा तरीके निकल चुके हैं कि एक छोटी, लेकिन काफ़ी समझदार, लड़की किसी की हत्या और विनाश तक कर सकती है। जिस परिस्थिति का जिक्र पत्र-लेखिका ने किया है, वैसी परिस्थितियों में लड़कियों को आत्म-रक्षा के तरीके सिखाने का रिवाज आजकल बढ़ रहा है: लेकिन वह लड़की यह भी खूब समझती है कि भले ही वह उस क्षण आत्म-रक्षा के हथियार के तौर पर अपने हाथ की किताब मारकर बच गई हो लेकिन बढ़ती हुई बुराई का यह कोई असली इलाज नहीं है। भद्दे अश्लील मजाक के कारण बहुत घबराने या डर जाने की जरूरत नहीं: लेकिन इनकी ओर से आँख मूँद लेना भी ठीक नहीं। ऐसे सब मामले अखबारों में छपा देने चाहिएँ। ठीक-ठीक मालूम होने पर शरारतियों के नाम भी अखबारों में छप जाने चाहिएँ। इस बुराई का भण्डाफोड़ करने में किसी का झूठा लिहाज नहीं करना चाहिए। इस सार्वजनिक बुराई के लिए प्रबल लोक-मत जैसा कोई अच्छा इलाज नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि इन मामलों को जनता बहुत उदासीनता से देखती है; लेकिन सिर्फ जनता को ही क्यों दोष दिया जाय? उसके सामने ऐसे गुस्ताखी के मामले भी तो आने चाहिएँ। चोरी के मामलों तक को पता लगाकर छापा जाता है, तब कहीं जाकर चोरी कम होती है। इसी तरह जब तक ऐसे मामले भी दबाये जाते रहेंगे, इस बुराई का इलाज नहीं हो सकता। पाप और बुराई भी अपने शिकार के लिए अन्धकार चाहते हैं। जब उन पर रोशनी पड़ती है, वे खुद-ब-खुद खत्म हो जाते हैं।

लेकिन मुझे डर है कि आधुनिक लड़की एक से अधिक मजनुओं की लैला बनना पसन्द करती है। 'एडवेंचर'—दुस्साहसिकता—उसे प्रिय है।...वह वायु, वर्षा, या धूप से अपने बचाव के लिए नहीं बल्कि लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए वस्त्र धारण करती है। वह अपने को रँगकर प्रकृति-दत्त रूप को मात करना और इस प्रकार असाधारण दिखना चाहती है। अहिंसा का मार्ग ऐसी लड़कियों के लिए नहीं है। मैं इन पृष्ठों में बहुत बार लिख चुका हूँ कि हमारे हृदय में अहिंसा की भावना के विकास के लिए भी कुछ निश्चित नियम होते हैं। अहिंसा की भावना बहुत महान् प्रयत्न है। विचार और जीवन के तरीके में यह क्रान्ति उत्पन्न कर देता है। यदि मेरी पत्र-लेखिका और उस तरह के से विचार रखने वाली लड़कियाँ ऊपर बताये गये तरीके से अपने जीवन को बिलकुल ही बदल डालें, तो उन्हें जल्दी ही यह अनुभव होने लगेगा कि उनके सम्पर्क में आनेवाले नौजवान उनका आदर करना तथा उनकी उपस्थिति में भद्रोचित व्यवहार करना सीखने लगे हैं; लेकिन यदि उन्हें मालूम होने लगे कि उनकी लाज और धर्म पर हमला होने का खतरा है, तो उनमें उस पशु-मनुष्य के आगे आत्म-समर्पण करने के बजाय मर जाने तक का साहस होना चाहिए। कहा जाता है कि कभी-कभी लड़की को इस तरह बाँध कर या मुँह में कपड़ा ठूँस कर विवश कर दिया जाता है कि वह आसानी से मर भी नहीं सकती। लेकिन मैं फिर भी जोरों के साथ यह कहता हूँ कि जिस लड़की में मुकाबला करने का दृढ़ संकल्प है, वह अपने को असहाय बनाने के लिए बाँधे गये सब बन्धनों को तोड़ सकती है। दृढ़ संकल्प उसे मरने की शक्ति दे सकता है।

लेकिन यह साहस और यह दिलेरी उन्हीं के लिए सम्भव है जिन्होंने इसका अभ्यास कर लिया है। जिनका अहिंसा पर दृढ़ विश्वास नहीं है, उन्हें रक्षा के साधारण तरीके सीख कर कायर युवकों के अश्लील व्यवहार से अपना बचाव करना चाहिए।

पर बड़ा सवाल तो यह है कि युवक साधारण शिष्टाचार भी क्यों

छोड़ दें, जिससे भली लड़कियों को हमेशा उनसे सताये जाने का डर लगता रहे ? मुझे यह जान कर दुःख होता है कि ज्यादातर नौजवानों में बहादुरी की ज़रा भी भावना नहीं रही। उन्हें अपने नवयुवक वर्ग की ख्याति की रक्षा करनी चाहिए। उन्हें अपने साथियों के ऐसे प्रत्येक अनुचित कार्य की जाँच करनी चाहिए। उन्हें हर एक स्त्री का अपनी माँ और बहिन की तरह आदर करना सीखना चाहिए। यदि वे शिष्टाचार नहीं सीखते, तो उनकी सारी लिखाई-पढ़ाई फिजूल है।

और क्या यह प्रोफेसरों व स्कूल-मास्टरों का फ़र्ज नहीं है कि वे लोगों के सामने जैसे अपने विद्यार्थियों की पढ़ाई के लिए जिम्मेवार होते हैं उसी तरह उनके शिष्टाचार और सदाचार के लिए भी उनको पूरी तसल्ली दें ?

—'हरिजन', ३१ दिसम्बर १९३८]

---

२. आधुनिक लड़की

["आधुनिक लड़की कहने का एक खास अर्थ है।...पर अंग्रेजी शिक्षा पानेवाली सभी लड़कियाँ आधुनिक नहीं हैं। मैं ऐसी लड़कियों को जानता हूँ जिन्हें 'आधुनिक लड़की' की भावना ने स्पर्श तक नहीं किया है। लेकिन कुछ ऐसी जरूर हैं जो आधुनिक लड़कियाँ बन गई हैं।"]

ग्यारह लड़कियों की ओर से लिखा हुआ एक पत्र मुझे मिला है, जिनके नाम और पते भी मुझे भेजे गये हैं। उसमें ऐसे हेर-फेर करके, जिससे उसके मतलब में तो कोई तब्दीली न हो, पर वह पढ़ने में अधिक अच्छा हो जाय, मैं उसे यहाँ देता हूँ :—

"एक विद्यार्थिनी के पत्र पर ३१ दिसम्बर १९३८ के 'हरिजन' में आपने* जो टीका-टिप्पणी की वह विशेष ध्यान देने के लायक है।

---

* पृष्ठ ५३ पर 'विद्यार्थियों के लिए लज्जाजनक' लेख देखिए।

मालूम पड़ता है कि आधुनिक लड़की ने आपको इस हद तक उत्तेजित कर दिया है कि अन्त में आपने उसे 'अनेक मजनुओं की लैला बनने की शौक़ीन' कह डाला है। इससे स्त्रियों के प्रति आपकी जिस वृत्ति का पता लगता है वह बहुत स्फूर्तिदायक नहीं है।

"इन दिनों जबकि पुरुषों की मदद करने और जीवन के भार में बराबरी का हिस्सा लेने के लिए स्त्रियाँ बन्द घरों से बाहर आ रही हैं, यह निस्सन्देह आश्चर्य की ही बात है कि पुरुषों का दुर्व्यवहार होने पर उन्हें ही दोष दिया जाता है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें दोनों का क़सूर बराबर हो। कुछ लड़कियाँ ऐसी हो सकती हैं जिन्हें अनेक मजनुओं की लैला बनना प्रिय हो; लेकिन उस हालत में यह भी मानना ही पड़ेगा कि ऐसे पुरुष भी हैं जो ऐसी लड़कियों की टोह में गली-सड़कों में फिरते रहते हैं; और यह तो हर्गिज़ नहीं माना जा सकता या मानना चाहिए कि आज-कल सभी लड़कियाँ इस तरह अनेक मजनुओं की लैला बनने की ही शौक़ीन हैं या आजकल के नवयुवक सब उनकी टोह में फिरने वाले ही हैं। आप खुद काफ़ी आधुनिक लड़कियों के सम्पर्क में आये हैं और उनके निश्चय, बलिदान एवं स्त्रियोचित अन्य गुणों का आप पर ज़रूर असर पड़ा होगा।

"आपको पत्र लिखनेवाली लड़की ने जैसे बदचलन आदमियों का ज़िक्र किया है उनके ख़िलाफ़ लोकमत तैयार करने का जहाँ तक सवाल है, यह करना लड़कियों का काम नहीं है। यह हम झूठी शर्म के लिहाज़ से नहीं, बल्कि उनके असर के लिहाज़ से कहती हैं।"

"लेकिन संसार-भर में जिसकी प्रतिष्ठा है ऐसे आदमी के द्वारा ऐसी बात कही जाना एक प्रकार से एक बार फिर पुरानी और लज्जाजनक लोकोक्ति की पैरवी करना है कि 'स्त्री नरक का द्वार है।'

"इस कथन से यह न समझिए कि आजकल की लड़कियाँ आपकी इज्ज़त नहीं करतीं। नवयुवकों की तरह ही वे भी आपका सम्मान करतीं

हैं। उन्हें तो सबसे बड़ी शिकायत यही है कि उन्हें नफ़रत या दया की दृष्टि से क्यों देखा जाय। उनके तौर-तरीक़े अगर सचमुच दोषपूर्ण हों तो वे उन्हें सुधारने के लिए तैयार हैं; लेकिन उनकी निन्दा करने से पहले उनका दोष अच्छी तरह सिद्ध कर देना चाहिए। इस सम्बन्ध में वे न तो स्त्रियों के प्रति शिष्टता की झूठी भावना की छाया का ही सहारा लेना चाहती हैं, न वे न्यायाधीश द्वारा मनमाने तौर पर अपनी निन्दा की जाने को चुपचाप बर्दाश्त करने के लिए ही तैयार हैं। सचाई का सामना तो करना ही चाहिए। आजकल की लड़की में, जिसे कि आपके कथनानुसार अनेक मजनुओं की लैला बनना प्रिय है इसका मुक़ाबला करने-जितना साहस पर्याप्त रूप में विद्यमान है।"

मुझे पत्र भेजनेवाली लड़कियों को शायद यह पता नहीं है कि चालीस बरस से ज्यादा हुए तब दक्षिण अफ्रीका में मैंने भारतीय स्त्रियों की सेवा का कार्य करना शुरू किया था, जबकि इनमें से किसी का शायद जन्म भी न हुआ होगा। मैं तो कुछ लिख ही नहीं सकता जो नारीत्व के लिए अपमानजनक हो। स्त्रियों के प्रति आदर की भावना मेरे अन्दर इतनी ज्यादा है कि मैं उनकी बुराई का विचार ही नहीं कर सकता। स्त्रियाँ तो, जैसा कि अंग्रेजी में उन्हें कहा गया है, हमारा उत्तम आधा अङ्ग हैं। फिर मैंने जो लेख लिखा वह विद्यार्थियों की निर्लज्जता पर प्रकाश डालने के लिए था, लड़कियों की कमज़ोरियों का ढोल पीटने के लिए नहीं। अलबत्ता रोग का निदान करने में मुझे उसका ठीक इलाज बतलाने के लिए उन सब बातों का उल्लेख करना लाज़िमी था जो रोग की तह में हैं।

आधुनिक लड़की कहने का एक खास अर्थ है। इसलिए मुझे अपनी बात कुछ ही तक सीमित रखने का कोई सवाल नहीं था। पर अंग्रेजी शिक्षा पाने वाली सभी लड़कियाँ आधुनिक नहीं हैं। मैं ऐसी लड़कियों को जानता हूँ जिन्हें आधुनिक लड़की की भावना ने स्पर्श तक नहीं किया है। लेकिन कुछ ऐसी जरूर हैं जो आधुनिक लड़कियाँ बन गई हैं।

मैंने जो कुछ लिखा वह भारत की विद्यार्थिनियों को यह चेतावनी देने के लिए था कि वे आधुनिक लड़कियों की नक़ल करके उस समस्या को और जटिल न बनायें जो पहले ही खतरनाक हो रही है। जिस समय मुझे वह पत्र मिला, उसी समय मुझे आन्ध्र से भी एक विद्यार्थिनी का पत्र मिला था, जिसमें आन्ध्र के विद्यार्थियों के व्यवहार की कड़ी शिकायत की गई थी और उसका जो वर्णन उसने किया था वह लाहौर की लड़की द्वारा वर्णित व्यवहार से भी बुरा था। आन्ध्र की उस लड़की का कथन है कि उसकी साथिन लड़कियों की, सादी पोशाक पहनने पर भी, रक्षा नहीं हो पाती, उनमें इतना साहस नहीं है कि वे उन लड़कों की बर्बरता का भण्डाफोड़ कर दें जो अपनी संस्था के लिए कलङ्क-रूप हैं। आन्ध्र युनिवर्सिटी के अधिकारियों का ध्यान मैं इस शिकायत की ओर आकर्षित करता हूँ।

पत्र भेजनेवाली इन ग्यारह लड़कियों को मैं इस बात के लिए निमन्त्रित करता हूँ कि वे विद्यार्थियों के बर्बर व्यवहार के खिलाफ जिहाद बोल दें। ईश्वर उन्हीं की मदद करता है जो अपनी मदद अपने-आप करते हैं। लड़कियों को पुरुष के बर्बर व्यवहार से अपनी रक्षा करने की कला तो सीख ही लेनी चाहिए।

—हरिजन, ४ फरवरी, १९३८

[६]

शील-रक्षा के उपाय

१. एक बहिन के प्रश्न

["जहाँ शुरू से अहिंसा की शिक्षा दी जाती है, जहाँ वायु-मण्डल अहिंसामय है, तहाँ स्त्री अपने को कभी पराधीन, निस्सहाय अथवा अबला मानेगी ही नहीं। अगर वह सचमुच पवित्र है तो अबला हो ही नहीं सकती। उसकी पवित्रता ही उसका बल है।"]

प्रश्न—स्त्रियों के शील की रक्षा कैसे की जाय ?

उत्तर—आपके सवाल के दो टुकड़े किये जा सकते हैं : (१) स्त्री अपने शील की रक्षा कैसे करे ? और (२) उसके रिश्तेदार—पिता भाई आदि—इसमें उसकी कैसे मदद करें ?

पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि जहां शुरू से अहिंसा की शिक्षा दी जाती है, ज़हाँ वायुमण्डल अहिंसामय है, तहाँ स्त्री अपने को कभी पराधीन, निस्सहाय अथवा अबला मानेगी ही नहीं। अगर वह सचमुच पवित्र है तो वह अबला हो ही नहीं सकती। उसकी पवित्रता ही उसका बल है। मैंने तो सदा से यह माना है कि किसी स्त्री का शील-भङ्ग उसकी इच्छा के बिना हो ही नहीं सकता। उस पर बलात्कार तभी होता है जब वह या तो डर जाती है या वह अपना नैतिक बल अनुभव नहीं करती। यदि वह शारीरिक बल में आक्रमणकारी से कम है पर उसमें पवित्रता का बल है तो इस बल पर वह शील-भङ्ग होने से पहले ही अपनी जान दे देगी। सीता का उदाहरण ही देख लीजिए। शारीरिक बल में वह रावण के सामने कुछ नहीं थीं, पर उनके शील का बल रावण के राक्षसी बल से कहीं अधिक था। रावण ने उन्हें वश में करने के लिए

अनेक प्रपञ्च किये, पर वह उनके शरीर पर हाथ नहीं लगा सका। इसके विपरीत, यदि स्त्री अपने शारीरिक बल को अथवा शस्त्र-बल को अपना आधार बनाती है तो शारीरिक बल टूट जाने पर या शस्त्र छिन जाने पर वह निश्चय ही पराजित हो जायगी।

दूसरे प्रश्न का उत्तर आसान है। भाई, पिता, अथवा मित्र, जो भी होगा, वह उस स्त्री और आक्रमणकारी के बीच जाकर खड़ा हो जायगा। इसके बाद वह या तो आक्रमणकारी को समझा कर कुकर्म से रोकेगा, अथवा उसे रोकने में अपनी जान दे देगा। इस तरह जान देकर वह एक तो कर्त्तव्यमुक्त हो जायगा और दूसरे उस बहिन को भी आत्मबल प्रदान करेगा, जिससे वह अपने शील की रक्षा करने का मार्ग जान जायगी।

प्रश्न—यही तो सवाल है। स्त्री अपनी जान कैसे निछावर करेगी? क्या वह ऐसा कर सकती है?

उत्तर—अवश्य ही; स्त्री के लिए जान निछावर करना पुरुष से अधिक सरल है। मैं जानता हूँ कि स्त्रियाँ इससे भी छोटे उद्देश्य के लिए जान दे सकती हैं। थोड़े ही दिनों की बात है, एक बीस बरस की लड़की ने जलकर अपनी जान दे दी। बात इतनी ही-सी थी कि उसके पति और दूसरे सम्बन्धी उसे पढ़ाना चाहते थे और वह पढ़ना नहीं चाहती थी। बस, उसने पूजा करते समय घी की बत्ती से अपनी साड़ी में आग लगाली और जरा भी आवाज किये बिना जल मरी। पास के कमरे में लोग थे, पर उन्हें तब पता चला जब वह काफ़ी जल चुकी थी। मैं यह नहीं कहता कि इस बहिन का यह काम स्तुत्य था, मेरा मतलब सिर्फ इतना ही बताने का है कि स्त्री किस आसानी से अपनी जान पर खेल सकती है। मैं कबूल करता हूँ कि कम से कम मुझमें इस तरह जल मरने का साहस नहीं। मगर उसका कारण शायद साहस की कमी नहीं, परन्तु इस प्रकार के काम के लिए अन्तःप्रेरणा का अभाव है।

—हरिजन, १ सितम्बर, १९४०]

२. निर्भयता की आवश्यकता

["आवश्यकता निर्भयता की है। जहाँ पवित्रता है वहीं निर्भयता हो सकती है। हमारा मन इतना मलिन हो गया है कि हमें स्त्रियों की पवित्रता के विषय में भय ही रहा करता है। इससे हम संसार को बदनाम करते हैं। स्त्रियों को हम इतना अपदार्थ समझते हैं मानों, वे अपनी पवित्रता की रक्षा करने के योग्य ही नहीं हैं। और पुरुषों को हम इतना पतित मानते हैं मानों वे पर-स्त्रियों को केवल अपनी निर्लज्ज दृष्टि से ही देखा करते हैं। दोनों विचार हमारे लिए लज्जाजनक हैं।"

आवश्यकता निर्भयता की है। जहाँ पवित्रता है वहीं निर्भयता हो सकती है। हमारा मन इतना मलिन हो गया है कि हमें स्त्रियों की पवित्रता के विषय में भय ही रहा करता है। इससे हम संसार को बदनाम करते हैं। स्त्रियों को हम इतना अपदार्थ समझते हैं मानों, वे अपनी पवित्रता की रक्षा करने के योग्य ही नहीं हैं। और पुरुषों को हम इतना पतित मानते हैं मानो वे पर-स्त्रियों को केवल अपनी निर्लज्ज दृष्टि से ही देखा करते हैं। दोनों विचार हमारे लिए लज्जाजनक हैं। और यदि हम स्त्री पुरुष दोनों ऐसे ही हों तो हमें मानना होगा कि हम स्वराज्य के बिल्कुल अयोग्य हैं!

यदि स्वराज्य सचमुच नज़दीक आ रहा हो तो स्त्रियाँ अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए दिन पर दिन अधिकाधिक तैयार होती जायँगी। उनके मन से डर दूर होना चाहिए। यह ख्याल गलत है कि स्त्रियाँ अपनी पवित्रता की रक्षा करने योग्य नहीं हैं। यह अनुभव के भी विरुद्ध है और स्त्री-पुरुष दोनों के लिए लज्जास्पद है। हाँ, ऐसे नरपशु संसार में अवश्य हैं जो बलात्कार करते हैं। पर जिस स्त्री को अपनी पवित्रता का ख्याल है उसपर बलात्कार करने वाला पुरुष न तो आजतक पैदा ही हुआ है और न होगा ही। हाँ, यह बात सच है कि प्रत्येक स्त्री में इतना

योग्य बल, इतनी पवित्रता नहीं है। और इसके न होने का कारण हमीं लोग हैं। लड़कियों को आरम्भ से ही हम ऐसी तालीम देते हैं जिससे वे अपने सतीत्व की रक्षा करने में समर्थ नहीं होतीं। अन्त में बड़ी होने पर इस शिक्षा अथवा कुशिक्षा का इतना असर उनके दिल पर हो जाता है कि वह यही मानती हैं कि स्त्री तो किसी भी पुरुष के हाथों में अपङ्ग है। परन्तु यदि सत्य और पवित्रता-जैसी कोई वस्तु दुनिया में हो तो मैं निःशंक होकर कहना चाहता हूँ कि स्त्री में अपनी रक्षा करने की पूरी-पूरी शक्ति मौजूद है। जो स्त्री दुःख के समय भगवान को याद करेगी उसकी रक्षा वह अवश्य करेगा। जो स्त्री मरने के लिए तैयार है उसे कौन दुष्ट एक शब्द भी कह सकता है। उसकी आँखों में ही इतना तेज होगा कि सामने खड़ा हुआ व्यभिचारी पुरुष जहाँ का तहाँ ढेर हो जायगा।

मरने की शक्ति तो सब में है; पर सबको उसकी इच्छा नहीं होती। जब कोई पुरुष किसी स्त्री को अपवित्र करने का प्रयत्न करता है, जब पुरुष पशु बनकर विषयासक्त होने लगता है तब दोनों को आत्मघात कर लेने का हक है—दोनों का कर्तव्य है कि ऐसा करें। जिसकी आत्मा में बल होता है वह आत्महत्या आसानी के साथ कर सकता है। स्त्री या पुरुष चाहे कैसे ही बलवान के पञ्जे में क्यों न जा फँसे हों, अपनी जीभ को दबाकर अथवा हाथ खुले हों तो अपना गला दबाकर प्राणत्याग कर सकते हैं। जो पुरुष अथवा स्त्री मरने के लिए तैयार हैं वे चाहे कितने ही जकड़ कर बाँध दिये जायँ, पेड़ से बाँध दिये जायँ, तो भी वे यदि हड्डियाँ टूट जाने की परवा न करें तो, उसमें से छूट सकते हैं। बलवान दुर्बल को क्यों अपने वश में कर लेता है? इसलिए कि दुर्बल को अपना प्राण प्यारा होता है। इससे वह मर जाने के लिए आवश्यक बल नहीं दिखा सकता। गुड़ पर चिपका हुआ चींटा अपने पाँव को टूटने देता है; पर हमारे बल के वश नहीं होता। बालक जब बहुत ज़ोर लगाता है तब माँ-बाप उसके हाथ को छोड़ देते हैं; क्योंकि यदि न छोड़ें तो बच्चे के

हाथ टूटने का डर रहता है। प्रत्येक मनुष्य में अपने किसी न किसी अङ्ग को तोड़ डालने की शक्ति होती है। परन्तु उससे होनेवाला—प्राण जाने से होनेवाला—दुःख सहन करने के लिए मनुष्य तैयार नहीं होता। ऐसी तैयारी करना तो स्वराज्यवादी का, प्रत्येक स्त्री-पुरुष का, धर्म है यदि हम ऐसी शक्ति के लिए परमात्मा से रोज प्रार्थना करें तो अवश्य मिलती है। प्रत्येक बहिन से मेरी प्रार्थना है कि वह प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर यह निश्चय करे "ईश्वर, तू मुझे पवित्र बनाये रख। अपनी पवित्रता के लिए आवश्यक बल तू मुझे दे। और मुझे ऐसी शक्ति दे जिससे मैं प्राणत्याग करके भी अपनी पवित्रता की रक्षा कर सकूँ। तेरे जैसा रखवाला होने पर मुझे भय किस बात का?" सद्भाव से की गई ऐसी प्रार्थना अवश्य प्रत्येक स्त्री की रक्षा करेगी।

—हिं० न० जी०, १५–१–२२]

[७]

संयम, विवाह का मूल मन्त्र

१. विवाह का रहस्य

हुदली में १८-४-'३७ को गांधी-सेवा-संघ के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर गांधीजी ने अपनी पोती कुमारी मनु बहन गांधी तथा स्व० श्री महादेव देसाई की बहिन कुमारी निर्मला बहिन का विवाह-संस्कार किया था। विवाह-संस्कार के बाद उन्होंने उनको, एकान्त में, निम्न उपदेश किया।—संपादक।

[*"कहा जाता है, इन्द्रिय-निग्रह और संयम गलत हैं; विषय-वासना की अबाध तृप्ति और स्वच्छन्द प्रेम ही सब से अधिक प्राकृतिक वस्तु है। इससे अधिक विनाशकारी मिथ्या विश्वास और कोई नहीं है।"*]

"तुम्हें यह जानना ही चाहिए कि मैं इन संस्कारों में उसी हद तक विश्वास करता हूँ, जहाँतक कि ये हमारे अन्दर कर्तव्य-पालन की भावना जगाते हैं। जब से मैंने अपने सम्बन्ध में विचार करना शुरू किया, तभी से मेरी यह मनोवृत्ति है। तुमने जिन मन्त्रों का उच्चारण किया है और जिन प्रतिज्ञाओं को लिया है, वे सब-की-सब संस्कृत में थीं: पर तुम्हारे लिए उन सबका अनुवाद कर दिया गया था। संस्कृत का हमने इसलिए आश्रय लिया कि मैं जानता हूँ कि संस्कृत शब्दों में वह शक्ति है, जिसके प्रभाव के नीचे आना मनुष्य पसन्द ही करेगा।

विवाह संस्कार के समय पति ने जो इच्छाएँ प्रकट की थीं उनमें एक यह भी है कि वधू अच्छे नीरोग पुत्र की जननी बने। इस कामना से मुझे आघात नहीं पहुँचा। इसके मानी यह नहीं हैं कि सन्तान पैदा

करना अनिवार्य है: इसका अर्थ यह है कि यदि सन्तान की आवश्यकता है, तो शुद्ध धर्म-भावना से विवाह करना जरूरी है। जिसे सन्तान की ज़रूरत नहीं, उसे विवाह करने की कोई आवश्यकता ही नहीं। विषय भोग की तृप्ति के लिए किया हुआ विवाह विवाह नहीं; वह तो व्यभिचार है। इसलिए आज के विवाह-संस्कारों का अर्थ यह है कि जब स्त्री-पुरुष दोनों की ही सन्तति के लिए स्पष्ट इच्छा हो, केवल तभी उन्हें सम्भोग की अनुमति मिलती है। यह सारी ही कल्पना पवित्र है। इसलिए इस काम को प्रार्थनापूर्वक ही करना होगा। कामोत्तेजना और विषय सुख की प्राप्ति के लिए साधारणतया स्त्री-पुरुष में जो प्रेमासक्ति देखने में आती है, उसका इस पवित्र कल्पना में नाम भी नहीं। अगर दूसरी सन्तान नहीं चाहिए, तो स्त्री पुरुष का ऐसा सम्भोग जीवन में केवल एक ही बार होगा। जो दम्पति चारित्र्य और शरीर से स्वस्थ नहीं हैं, उन्हें सम्भोग करने की कोई आवश्यकता नहीं, और अगर वे ऐसा करते हैं तो वह 'व्यभिचार' है। अगर तुमने यह सीखा हो कि विवाह विषय तृप्ति के लिए है, तो तुम्हें यह चीज भूल जानी चाहिए। यह तो एक वहम है। तुम्हारा सारा ही संस्कार पवित्र अग्नि की साक्षी में हुआ है। तुम्हारे अन्दर जो भी काम-वासना हो उसे वह पवित्र अग्नि भस्म कर दे।

मैं तुम्हें एक मिथ्या-विश्वास से दूर रहने के लिए कहूँगा। यह मिथ्या विश्वास दुनिया में आजकल ज़ोरों से फैलता जा रहा है। कहा जाता है, इन्द्रिय-निग्रह और संयम ग़लत विधि हैं: विषय-वासना की अबाध तृप्ति और स्वच्छन्द प्रेम ही सबसे अधिक प्राकृतिक वस्तु है। इससे अधिक विनाशकारी मिथ्या विश्वास और कोई नहीं है। सम्भव है कि तुम आदर्श तक न पहुँच सको, तुम्हारा शरीर अशक्त हो: पर इससे आदर्श को नीचा न कर देना, अधर्म को धर्म न बना लेना। अपनी आत्म-निर्बलता के क्षणों में मेरा यह कहना याद रखना। इस पवित्र अवसर की स्मृति तुम्हें डाँवाडोल न होने दे, और तुम्हें इन्द्रिय-निग्रह की ओर ले जाय। विवाह का अर्थ ही इन्द्रिय-निग्रह और काम-वासना का

दमन है। अगर विवाह का कोई दूसरा अर्थ है, तो फिर वह स्वार्पण नहीं, किन्तु सन्तति-प्राप्ति को छोड़कर किसी दूसरे प्रयोजन से किया हुआ विवाह है। विवाह ने तुम्हे मैत्री और समानता के स्वर्ण-सूत्र से बाँध दिया है। पति को अगर 'स्वामी' कहा गया है तो पत्नी को 'स्वामिनी'। एक दूसरे के दोनों सहायक हैं, जीवन के समस्त कार्य और कर्तव्य पूरे करने में वे एक-दूसरे का सहयोग करने वाले हैं। लड़को! तुमसे मैं यह कहूँगा कि अगर ईश्वर ने तुम्हें अच्छी बुद्धि और उज्ज्वल भावनाएँ दी हैं तो तुम अपनी पत्नियों में भी अपने इन सद्‌गुणों का प्रवेश करो। उनके तुम सच्चे शिक्षक और मार्ग-दर्शक बनना, उन्हें मदद देना और उन्हें मार्ग दिखाना; पर कभी उनके बाधक न बनना, न उन्हें गलत रास्ते पर ले जाना। तुम्हारे बीच विचार, वचन और कर्म का पूर्ण सामञ्जस्य हो, तुम अपने हृदय की बात एक-दूसरे से न छिपाओ, तुम एकात्म बन जाओ।

मिथ्याचारी या दम्भी न बनना। जिस काम का करना तुम्हारे लिए असम्भव हो, उसे पूरा करने के निष्फल प्रयत्नों में अपना स्वास्थ्य न गिरा बैठना। इन्द्रिय-निग्रह से कभी किसी का स्वास्थ्य नष्ट नहीं होता। जिससे मनुष्य का स्वास्थ्य नष्ट होता है, वह निग्रह नहीं किन्तु बाह्य अवरोध है। सच्चे आत्म-निग्रही व्यक्ति की शक्ति तो दिन-दिन बढ़ती है, और शान्ति के वह अधिकाधिक समीप पहुँचता जाता है। आत्म-निग्रह की सबसे पहली सीढ़ी विचारों का निग्रह है। अपनी मर्यादाओं को समझ लो, और जितना हो सके उतना ही करो। मैंने तो तुम्हारे सामने आदर्श रख दिया है—एक समकोण खींच दिया है। अपनी शक्ति के अनुसार जितना तुमसे हो सके उतना प्रयत्न इस आदर्श तक पहुँचने का करना। पर अगर तुम असफल हो जाओ तो दुःख या शर्म का कोई कारण नहीं। मैंने तो तुम्हें सिर्फ यह बतलाया है कि यज्ञोपवीत संस्कार की तरह विवाह भी एक स्वार्पण संस्कार है, एक नया जन्म धारण करना है। मैंने तुमसे जो कहा है, उससे भयभीत न होना,

और न कोई दुर्बलता महसूस करना। हमेशा विचार, वचन और कर्म की पूर्ण एकता को अपना लक्ष्य बनाये रहना। विचार में जितनी सामर्थ्य है, उतनी और किसी वस्तु में नहीं। कर्म वचन का अनुसरण करता है और वचन विचार का। संसार एक महान प्रबल विचार का ही परिणाम है, और जहाँ विचार प्रबल और पवित्र है, वहाँ परिणाम भी हमेशा प्रबल और पवित्र होगा। मैं चाहता हूँ कि तुम एक उच्चादर्श का अभेद्य कवच धारण करके जाओ, और मैं विश्वास दिलाता हूँ कि तुम्हें कोई भी प्रलोभन हानि नहीं पहुँचा सकेगा: कोई भी अपवित्रता तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकेगी।

जिन विधियों को तुम्हें समझाया गया है, उन्हें याद रखना। 'मधुपर्क की सीधी-सादी दीखने वाली विधि को ही ले लो। इसका अभिप्राय यह है कि सारा संस्कार मधु से परिपूर्ण है, जरूरत सिर्फ यह है कि जब बाकी सब लोग उसमें से अपना हिस्सा ले लें, तब तुम उसे ग्रहण करो। अर्थात् त्याग से ही आनन्द मिलता है।

"लेकिन अगर सन्तानोत्पत्ति की इच्छा न हो, तो क्या विवाह ही नहीं करना चाहिए?" एक वर ने पूछा।

निश्चय ही नहीं। आध्यात्मिक विवाहों में मेरा विश्वास नहीं है। कई ऐसे उदाहरण जरूर मिलते हैं कि जिनमें पुरुषों ने शारीरिक सम्भोग का कोई ख्याल न कर सिर्फ स्त्रियों की रक्षा करने के विचार से ही विवाह किये; लेकिन यह निश्चय है कि ऐसे उदाहरण विरले ही हैं। पवित्र वैवाहिक जीवन के बारे में मैंने जो कुछ लिखा है, वह सब तुम्हें ज़रूर पढ़ लेना चाहिए। मुझ पर तो, मैंने महाभारत में जो-कुछ पढ़ा है, दिन-पर-दिन उसका ज्यादा-से-ज्यादा असर पड़ता जा रहा है। उसमें व्यास के नियोग करने का वर्णन है। उसमें व्यास को सुन्दर नहीं बताया है; बल्कि वह तो इससे विपरीत थे, उनकी शक्ल-सूरत का उसमें जो वर्णन आया है, उससे मालूम पड़ता है कि देखने में वह बड़े कुरूप थे, प्रेम-प्रदर्शन के लिए कोई हाव-भाव भी उन्होंने नहीं बताये; बल्कि सम्भोग

से पहले अपने सारे शरीर पर उन्होंने घी चुपड़ लिया था। उन्होंने जो सम्भोग किया वह विषय-वासना की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि सन्तानोत्पत्ति के लिए किया था। सन्तान की इच्छा बिल्कुल स्वाभाविक है, और जब एक बार यह इच्छा पूर्ण हो जाय, तो फिर सम्भोग नहीं करना चाहिए।

मनु ने पहली सन्तति को धर्मज अर्थात् धर्म-भावना से उत्पन्न बताया है और उसके बाद पैदा होनेवाले को कामज अर्थात् कामवृत्ति के फल-स्वरूप पैदा होनेवाला कहा है। सार-रूप में वैषयिक सम्बन्धों का यही विधान है। और 'विधान ही ईश्वर है और विधान या नियम का पालन ही ईश्वर की आज्ञा को मानना है।' यह याद रक्खो कि तीन बार तुमसे यह वचन लिया गया है कि 'किसी भी रूप में मैं इस विधान का भङ्ग नहीं करूँगा।' अगर मुट्ठी-भर स्त्री-पुरुष ही हमें ऐसे मिल जायँ, जो इस विधान से बँधने को तैयार हों तो बलवान और सच्चे स्त्री-पुरुषों की एक जाति की जाति पैदा हो जायगी।

---

२. काम रोग का निवारण

["स्त्री और पुरुष दोनों को ही जानना चाहिए कि अपने को विषयेच्छा तृप्त करने से रोकने के फलस्वरूप कोई रोग नहीं होता। इसके विपरीत यदि मन और शरीर दोनों के सहयोग से विषयेच्छा रोकी जाती है तो स्वास्थ्य और तेज में वृद्धि होती है।"]

विलियम आर० थर्स्टन, प्रकाशक की भूमिका के अनुसार, अमेरिकन सेना में मेजर थे और उन्होंने दस बरस तक सेना में नौकरी की। इतने बरसों की नौकरी में उन्होंने संसार के बहुत से देशों का, चीन का भी, अनुभव कमाया। अपनी यात्राओं में उन्होंने विवाह के नियमों और विवाह की प्रथाओं का अध्ययन किया, जिसके फलस्वरूप उन्हें विवाह पर एक पुस्तक लिखने की प्रेरणा हुई। इस पुस्तक का नाम "विवाह

का तत्वज्ञान' है। यह पुस्तक पारसाल टिफनी प्रेस, न्यूयार्क से प्रकाशित हुई थी। इसमें बड़े अक्षरों में ३२ पन्ने हैं और आसानी से एक घण्टे के भीतर पढ़े जा सकते हैं। लेखक तर्कों में नहीं उतरा है। उसने केवल अपने निर्णय दिये हैं, जिन्हें प्रकाशक ने सच ही आश्चर्यजनक बताया है। अपनी भूमिका में लेखक ने दावा किया है कि उसके निर्णय युद्ध के समय व्यक्तिगत निरीक्षण, डाक्टरों से प्राप्त तथ्यों पर, तथा सामाजिक स्वास्थ्यरक्षक मण्डलों और चिकित्सालयों के आँकड़ों पर आश्रित हैं। उनके निर्णय निम्नलिखित हैं।

१. **प्रकृति का यह उद्देश्य कभी नहीं था कि स्त्री केवल परवरिश पाने और सन्तानवती होने के अपने प्राकृतिक अधिकार का उपयोग करने के लिए जीवन भर को एक पुरुष से बँध जाय और प्रत्येक रात को अपने पति के साथ एक बिस्तर पर सोने अथवा सहवास करने के लिए विवश हो, चाहे वह गर्भवती ही क्यों न हो।**

१. **वर्तमान विवाह-सम्बन्धी नियमों और प्रथाओं के कारण स्त्री और पुरुष दिन-रात एक साथ रहते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप अमर्यादित रूप से विषयभोग होता है, जिससे स्त्री और पुरुष दोनों की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ दूषित हो जाती हैं और विवाहिता स्त्रियों में ९० प्रतिशत स्त्रियाँ वेश्याओं-जैसा जीवन बिताती हैं। इस स्थिति के उत्पन्न होने का कारण यह है कि विवाहिता स्त्रियों को विश्वास कराया गया है कि इस प्रकार की वेश्यावृत्ति नियमित होने के कारण उचित और स्वाभाविक है तथा अपने पति के प्रेम को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है।**

इसके बाद लेखक ने इस निरंकुश विषय-भोग का क्या परिणाम होता है, इसका वर्णन किया है, जिसे मैं नीचे देता हूँ :—

१. **इससे स्त्री के ज्ञानतन्तु अतिशय निर्बल हो जाते हैं, वह असमय वृद्ध हो जाती है; शरीर में रोग घर कर लेता है; स्वभाव चिड़चिड़ा और अशान्त हो जाता है; हर समय असन्तुष्ट रहती है और बच्चों को उचित रीति से पालन-पोषण करने में असमर्थ हो जाती है।**

२. **गरीबों में इसके फलस्वरूप बहुत से बच्चे पैदा हो जाते हैं, जिनका पोषण करना असम्भव हो जाता है।**
३. **ऊँचे वर्ग के लोगों में निरंकुश विषयभोग के कारण सन्तति-नियमन के कृत्रिम उपायों तथा गर्भपात का आश्रय लिया जाता है।** यदि सन्तान-नियमन के नाम पर अथवा अन्य किसी नाम पर सर्वसामान्य स्त्रियों में से अधिकांश स्त्रियों को कृत्रिम उपायों की शिक्षा दी जायगी तो धीरे-धीरे समूची जाति रोगी, अनीतिमय और चरित्रभ्रष्ट हो जायगी और इसका फल यह होगा कि अन्त में नष्ट हो जायगी।
४. **अतिशय विषय-भोग से पुरुष का पौरुष नष्ट हो जाता है, जो अच्छी जीविका कमाने के लिए आवश्यक है।** अमेरिका में आज विधुरों की अपेक्षा २० लाख अधिक विधवाएँ हैं। इनमें से अपेक्षाकृत बहुत कम लड़ाई के फलस्वरूप विधवा हुई हैं।
५. **विवाहित अवस्था में होने वाले अतिशय विषय-भोग के कारण स्त्री और पुरुष, दोनों, के मन में व्यर्थता की एक भावना समा जाती है।** दुनिया में आज जो दरिद्रता छाई हुई है और बड़े-बड़े नगरों में जो गन्दे मुहल्ले दिखाई पड़ते हैं इसका कारण अच्छी मजदूरी न मिलना नहीं है, बल्कि विवाह के वर्तमान नियमों के परिणाम-स्वरूप अत्यधिक निरंकुश विषयभोग है।
६. **मनुष्यजाति के भविष्य के ध्यान से गर्भावस्था में विषय-भोग तो सबसे अधिक भयंकर है।**

इसके बाद लेखक ने चीन तथा हिन्दुस्तान पर आक्षेप किये हैं, जिनमें जाने की मुझे जरूरत नहीं। इस प्रकार आधी पुस्तक खत्म हो जाती है। शेष आधी पुस्तक में इस स्थिति के निवारण के उपाय बताये गये हैं।

मुख्य उपाय तो यह है कि पति और पत्नी सदा अलग-अलग कमरों में और रहें अलग-अलग बिस्तरों पर सोयें और सहवास उसी समय करें जब उन्हें विशेषतया पत्नी को, सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा हो। विवाह

के नियमों में जो परिवर्तन प्रस्तावित किये गये हैं, उन्हें मैं नहीं दूंगा। मारे संसार में विवाह होने के उपरान्त यह आम रिवाज है कि स्त्री और पुरुष एक ही कमरे में और एक ही बिछौने पर सोते हैं। इसकी लेखक ने कठोर शब्दों में निन्दा की है और मैं कहूँगा कि ठीक ही की है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे भीतर, चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, इतनी वैष यिकता का कारण यह अन्ध विश्वास है कि दम्पती को एक ही कमरे में और एक ही बिस्तर पर सोना चाहिए। यह अन्ध विश्वास एक प्रकार से धर्म-द्वारा अनुमोदित हो गया है। इससे हमारी जो मनोदशा हो गई है, उसके भयंकर परिणाम अनुमान करना हमारे लिए कठिन है, क्योंकि हम स्वयं इस अन्ध विश्वास द्वारा उत्पन्न दूषित वातावरण में रह रहे हैं।

जैसा कि हम देख चुके हैं, लेखक कृत्रिम उपायों से सन्ततिनियमन के विरुद्ध है।

लेखक ने अन्य बहुत से उपाय भी बताये हैं परन्तु वे मेरे विचार में हमारे लिए व्यावहारिक नहीं हैं और फिर उनके लिए कानून की अनुमति की आवश्यकता है। पर प्रत्येक यह प्रतिज्ञा तो आज से ही कर सकता है कि हम रात में एक ही कमरे अथवा एक ही विस्तर पर नहीं सोयेंगे और सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य के अलावा और सभी अवसरों पर विषय-भोग से दूर रहेंगे। विषय-भोग का उद्देश्य मनुष्य और पशु दोनों में ही प्रजनन है।

पशु इस नियम का अनिवार्य रूप से पालन करते हैं। मनुष्य में इस नियम का पालन स्वेच्छा पर है और वह अपनी इच्छा का गलत उपयोग करता हैं। प्रत्येक स्त्री को कृत्रिम उपायों से सन्तति-नियमन से कोई भी सरोकार रखने से इन्कार कर देना चाहिए। स्त्री और पुरुष दोनों को जानना चाहिए कि अपने को विषयेच्छा तृप्त करने से रोकने के फलस्वरूप कोई रोग नहीं होता। इसके विपरीत यदि मन और शरीर दोनों के सहयोग से विषयेच्छा रोकी जाती है तो स्वास्थ्य और तेज में वृद्धि होती है। लेखक का विश्वास है कि 'आज के संसार की अधिकांश

बुराइयों के लिए' विवाह के वर्तमान नियम जिम्मेदार हैं। पर ऊपर मैंने जिन दो प्रतिज्ञाओं की तजवीज की है, उन्हें लेने के लिए लेखक के इस विश्वास का भागीदार बनने की आवश्यकता नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि हम स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध को स्वस्थ और पवित्र दृष्टि से देखें तथा अपने को आगे की पीढ़ी की नैतिक भलाई का संरक्षक मान लें तो आज जो बहुत सी बुराइयाँ दिखाई पड़ती हैं, उनमें से अधिकांश दूर हो जायँगी।

—यंग इंडिया, २७ सितम्बर १९२८]

---

३. विवाह-संस्था मिटा दो !

["विवाह एक ऐसी बाड़ है जो धर्म की रक्षा करती है। यदि यह बाड़ तोड़ दी जायगी तो धर्म का नाश हो जायगा। धर्म का आधार आत्म-संयम है और विवाह भी आत्मसंयम के सिवाय और कुछ नहीं है।"]

एक पत्र लेखक ने, जिन्हें मैं अच्छी तरह जानता हूँ, एक प्रश्न उठाया है। मैं इस प्रश्न पर केवल शास्त्रीय विवाद के लिए विचार करूँगा। मैं जानता हूँ कि उन्होंने जो मत व्यक्त किया है वह उनका नहीं है। उन्होंने प्रश्न किया है—"क्या हमारी वर्तमानकालीन नैतिकता अस्वाभाविक नहीं है? यदि वह स्वाभाविक होती तो सब जगह और सब युगों में पाई जाती, पर देखने में आता है कि प्रत्येक जाति और प्रत्येक समुदाय के अपने-अपने विवाह-सम्बन्धी विचित्र कानून होते हैं और इन कानूनों का पालन कराने में मनुष्य पशु से भी नीचे उतर जाते हैं। क्योंकि, ऐसे-ऐसे रोग, जो पशुओं तक में नहीं होते, मनुष्यों में साधारणतया होते हैं; बालहत्या, भ्रूणहत्या, बालविवाह आदि बुराइयाँ उस समाज में जो विवाह को एक धार्मिक संस्कार मानता है, अभिशाप-स्वरूप हैं। ये बुराइयाँ पशु जगत् तक में नहीं होतीं। हम जिन्हें नैतिक

नियम मानते हैं, उनसे अनगिनती बुराइयाँ उत्पन्न हुई हैं। और हिन्दू विधवाओं की दयनीय अवस्था! वह किस कारण है? विवाह सम्बन्धी कानूनों ने ही तो उनकी यह अवस्था की है! तब फिर प्रकृति की गोद में वापस क्यों न लौट चला जाय और पशु जगत् से शिक्षा क्यों न ग्रहण की जाय?"

मुझे पता नहीं कि पश्चिम में स्वतन्त्र प्रेम के समर्थक उपर्युक्त तर्कों तक ही आश्रय लेते हैं अथवा और अधिक शक्तिशाली कारण पेश करते हैं, लेकिन मुझे इतना निश्चय है कि विवाह-बन्धन को बर्बरतापूर्ण मानने की प्रवृत्ति निश्चित रूप से पश्चिमी है।

मनुष्य और पशु की तुलना करना ग़लत है और इसी तुलना के कारण सारे तर्क दूषित हो जाते हैं। कारण, मनुष्य अपनी नैतिक प्रवृत्तियों तथा नैतिक संस्थाओं के कारण पशु से श्रेष्ठ है। एक पर प्रकृति का जो नियम लागू होता है, वह प्रकृति के उस नियम से भिन्न है जो दूसरे पर लागू होता है। मनुष्य में विचारशक्ति, विवेक बुद्धि और स्वतन्त्र इच्छा होती है। पशु में ये चीजें नहीं होतीं। वह स्वतन्त्र बुद्धि से कार्य नहीं करता, वह पाप और पुण्य का, सत् और असत् का अन्तर नहीं जानता। मनुष्य स्वतन्त्र बुद्धि होने के कारण इन चीजों का अन्तर जानता है और जब वह अपनी उत्तम प्रकृति का अनुकरण करता है तो पशु से कहीं अधिक श्रेष्ठ साबित होता है, पर जब वह अपनी निम्न प्रकृति का अनुसरण करता है तो वह पशु से भी नीचे चला जाता है। पृथ्वी पर सबसे अधिक असभ्य मानी जाने वाली जातियाँ तक अपनी विषयेच्छा पर कुछ-न-कुछ प्रतिबन्ध रखती हैं। यदि यह कहा जाय कि प्रतिबन्ध स्वयं अपने में बर्बरतापूर्ण है तो फिर सभी प्रतिबन्धों से मुक्ति ही मनुष्यों का सर्वमान्य नियम होना चाहिए। यदि सभी मनुष्य इस नियम-विहीन नियम के अनुसार आचरण करने लगें तो चौबीस घण्टे के भीतर पूर्ण विप्लव फैल जायगा। चूँकि मनुष्य में प्रकृत्या पशु की अपेक्षा अधिक वासना होती है, इसलिए जिस घड़ी सभी प्रतिबन्ध हटा लिये जायँगे,

उसी घड़ी निरंकुश वासना का ज्वालामुखी फूट कर सारी पृथ्वी को ढक लेगा और सारी मनुष्य जाति का नाश कर देगा। मनुष्य पशु से श्रेष्ठ इसी बात में है, कि वह आत्म-संयम और आत्म-त्याग में समर्थ है, जब कि पशु सर्वथा असमर्थ है।

वर्तमान समय में वे कुछ रोग जो सर्वसाधारण में प्रचलित हो रहे हैं विवाह के नियमों का उल्लंघन करने के फलस्वरूप हैं। मैं एक भी ऐसा उदाहरण जानना चाहूँगा, जहाँ बिवाह बन्धन के संयम का पालन करने वाला कोई व्यक्ति उन रोगों का शिकार हुआ हो, जिनकी ओर पत्र-लेखक ने इशारा किया है। बाल-हत्या, बाल विवाह तथा इसी प्रकार की अन्य बुराइयाँ भी विवाह के नियमों का उल्लंघन करने के ही फल हैं। क्योंकि नियम तो कहता है कि स्त्री वा पुरुष, दोनों में से कोई, उसी समय विवाह का विचार करेंगे जब वे सयाने हो जायँगे, स्वस्थ होंगे, आत्म संयम का पालन कर सकेंगे और सन्तान की इच्छा रखते होंगे। जो इस नियम का दृढ़ता से पालन करते हैं तथा विवाह-संस्कार को एक धार्मिक संस्कार मानते हैं, उन्हें कभी दुखी होने अथवा क्लेश करने का अवसर नहीं मिलता। जहाँ विवाह एक धार्मिक संस्कार माना जाता है जहाँ दो शरीरों का नहीं बल्कि दो आत्माओं का गठबन्धन होता है जो दोनों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर भी भंग नहीं होता। जहाँ आत्माओं का सच्चा मिलन होता है वहाँ विधवा अथवा विधुर का पुनर्विवाह कल्पनातीत, अनुचित और गलत होता है। पर जिन विवाहों में विवाह के वास्तविक नियमों का पालन नहीं होता, उन्हें विवाह के नाम से पुकारना ही नहीं चाहिए। यदि आज बहुत थोड़े सच्चे विवाह होते हैं तो इसका दोष विवाह-संस्था पर नहीं, बल्कि उसके प्रचलित स्वरूप पर है, जिसमें सुधार किया जाना चाहिए।

पत्र-लेखक ने यह मत उपस्थित किया है कि विवाह कोई नैतिक अथवा धार्मिक बन्धन नहीं है, बल्कि एक प्रथा है और ऐसी प्रथा है जो

धर्म और नैतिकता के विरुद्ध है और इसलिए उसे मिटा देना ही उचित है। मैं कहूँगा कि विवाह एक ऐसी बाड़ है जो धर्म की रक्षा करती है। यदि यह बाड़ तोड़ दी जायगी तो धर्म का नाश हो जायगा। धर्म का आधार आत्म-संयम है और विवाह भी आत्म-संयम के सिवाय और कुछ नहीं है। जिस व्यक्ति में आत्मसंयम नहीं है उसे आत्मदर्शन की आशा नहीं करनी चाहिए। मैं स्वीकार करता हूँ कि एक अनीश्वरवादी अथवा पदार्थवादी के निकट आत्मसंयम की आवश्यकता सिद्ध करना कठिन है। पर जो यह समझता है कि शरीर तो नाशवान् है, पर आत्मा अमर है, वह बिना बतलाये अपने संस्कार से जानता है कि आत्म-निग्रह और आत्म संयम के बिना आत्म-दर्शन असम्भव है। शरीर को वासना की क्रीड़ा-भूमि भी बना सकते हैं और आत्म-दर्शन का मन्दिर भी। यदि उसे आत्म-दर्शन का मन्दिर बनाना है तो फिर वहाँ उच्छृङ्खलता को स्थान नहीं हो सकता। आत्मा प्रतिक्षण शरीर पर अंकुश रखेगी।

जहाँ विवाह-बन्धन शिथिल है, जहाँ आत्मसंयम के नियमों का पालन नहीं होता, वहाँ स्त्री लड़ाई-झगड़े की जड़ बन जायगी। यदि मनुष्य पशुओं की भाँति ही निरंकुश होते तो सीधे विनाश का मार्ग ग्रहण कर लेते।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि पत्र-लेखक ने जिन-जिन बुराइयों की शिकायत की है वे सभी विवाह-संस्था मिटाकर नहीं, बल्कि विवाह के नियमों को हृदयङ्गम करके तथा उनका पालन करके दूर की जा सकती हैं।

मैं यह बात स्वीकार करता हूँ कि कुछ जातियों में निकट के सम्बन्धियों में विवाह की अनुमति है, पर अन्य जातियों में निषिद्ध है; कुछ जातियों में बहुविवाह का निषेध है, पर अन्य जातियों में उसकी अनुमति है। किसी के मन में यह इच्छा उठ सकती है कि सभी जातियों में एक से नैतिक नियम होते तो अच्छा था, पर नैतिक नियमों की विभिन्नता से यह सूचित नहीं होता कि सभी अंकुश हटा दिये जायँ। जैसे-

जैसे हमारे अनुभव-ज्ञान में वृद्धि होती जायगी, हमारी नैतिकता में भी एकरूपता आती जायगी। आज भी संसार का नैतिक विचार एक-विवाह (Monogamy) को सर्वोच्च आदर्श मानता है, और कोई भी धर्म बहुविवाह को कर्त्तव्य नहीं बताता। काल और स्थान के अनुसार छूट मिल गई है, पर आदर्श वही है।

विधवाओं के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में अपने विचार दुहराने की आवश्यकता मुझे नहीं है, क्योंकि मै कुमारी विधवाओं का पुनर्विवाह केवल वाञ्छनीय ही नहीं समझता, बल्कि इस प्रकार की विधवा लड़कियों के सभी माता-पिताओं का कर्त्तव्य मानता हूँ।

—यंग इंडिया, ३ जून, १९२६]

---

२. विचार-दोष

एक सज्जन लिखते हैं :—

"आपने विवाह संस्था मिटा दो !' शीर्षक एक लेख में एक जगह लिखा है : 'जहाँ विवाह एक धार्मिक संस्कार माना जाता है वहाँ के दो शरीरों का नहीं बल्कि दो आत्माओं का गठबन्धन होता है जो दोनों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर भी भङ्ग नहीं होता। जहाँ आत्माओं का सच्चा मिलन होता है वहाँ विधवा अथवा विधुर का पुनर्विवाह कल्पनातीत, अनुचित और गलत होता है।'

"उसी लेख में एक दूसरी जगह आपने लिखा है; 'मैं कुमारी-विधवाओं का पुनर्विवाह केवल वाञ्छनीय ही नहीं समझता बल्कि इस प्रकार की विधवा लड़कियों के सभी माता-पिताओं का कर्त्तव्य मानता हूँ।'

"आप इन दो मतों में सङ्गति कैसे बिठाते हैं ?"

मुझे इन दो मतों में सङ्गति बिठाने में कोई कठिनाई नहीं मालूम पड़ती। अगर कोई अज्ञानी अथवा निर्दय माता-पिता अपनी नन्ही बालिका को, उसके हिताहित का विचार न करके, उसकी इच्छा और

सम्मति के बिना, किसी को सौंप दें तो इस तरह का सम्बन्ध विवाहसम्बन्ध नहीं कहलायेगा। यह सम्बन्ध धार्मिक तो किसी प्रकार नहीं है और इसलिए इस प्रकार की बाला का पुनर्विवाह कर्त्तव्य हो जाता है। सच पूछा जाय तो ऐसे विवाहों को 'पुनर्विवाह' नाम देना गलत है। सच्चे मानी में तो कुमारी लड़की का कभी विवाह ही नहीं हुआ था और इसलिए उसके नामधारी पति की मृत्यु पर यह बिल्कुल स्वाभाविक होगा। यह एक धर्म होगा कि उसके माता-पिता उसके लिए एक योग्य जीवन-साथी ढूँढ़ दें।

—यंग इंडिया, २६ सितम्बर, १९२६]

[८]

वैवाहिक प्रतिबन्धों का मर्म

—+※+—
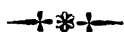
१. धर्म-संकट

["विवाह-सम्बन्धी प्रतिबन्ध रूढ़ियों से बने हैं। यह देखने में नहीं आता कि ये प्रतिबन्ध किसी धार्मिक या तात्विक निर्णय से बने है। लेकिन नवयुवक वर्ग को यह भी नहीं चाहिए कि वह समाज के सब प्रतिबन्धो को छिन्न-भिन्न करके फेंक दे।"

एक सज्जन लिखते हैं :—

"करीब ढाई साल हुआ, हमारे शहर में एक घटना हो गई थी, जो इस प्रकार है:—एक वैश्य गृहस्थ की १४ बरस की एक कुमारी कन्या थी। इस लड़की का मामा, जिसकी उम्र लगभग २१ वर्ष की थी, स्थानीय कालेज में पढ़ता था। यह तो मालूम नहीं कि कब से इन दोनों मामा और भांजी में प्रेम था, पर जब बात खुल गई तो इन दोनों ने आत्महत्या कर ली। लड़की तो फौरन ही जहर खाने के बाद मर गई, पर लड़का दो रोज बाद अस्पताल में मरा। लड़की को गर्भ भी था। इस बात की शुरू-शुरू में तो खूब चर्चा चली, यहाँ तक कि अभागे माँ-बाप को शहर में रहना भारी हो गया। पर वक्त के साथ-साथ यह बात भी दब गई और लोग भूलने लगे। कभी-कभी जब ऐसी मिलती-जुलती बात सुनने में आती है, तब पुरानी बातों की भी चर्चा होती है और यह वाक़या भी दुहरा दिया जाता है। पर उस जमाने में, जब करीब-करीब सभी लड़की को और लड़के को भी बुरा-भला कह रहे थे, मैंने यह राय प्रकट की थी, कि ऐसी हालत में समाज को विवाह कर लेने की इजाजत दे देनी चाहिए। आपकी इस पर क्या राय है?"

मैंने स्थान का और लेखक का नाम नहीं दिया है, क्योंकि लेखक नहीं चाहते कि उनका अथवा उनके शहर का नाम प्रकाशित किया जाय। तो भी इस प्रश्न पर खुली चर्चा आवश्यक है। मेरी तो यह राय है कि ऐसे सम्बन्ध जिस समाज में त्याज्य माने जाते हैं, वहाँ विवाह का रूप वे एकाएक नहीं ले सकते। लेकिन किसी की स्वतन्त्रता पर समाज या सम्बन्धी आक्रमण क्यों करें? ये मामा और भांजी सयानी उम्र के थे, अपना हित-अहित समझ सकते थे। उन्हें पति पत्नी के सम्बन्ध से रोकने का किसी को हक़ नहीं था। समाज भले ही इस सम्बन्ध को अस्वीकार करता, पर उन्हें आत्महत्या करने तक जाने देना तो बहुत बड़ा अत्याचार था।

उक्त प्रकार के सम्बन्ध का प्रतिबन्ध सर्वमान्य नहीं है। ईसाई, मुसलमान, पारसी इत्यादि कौमों में ऐसे सम्बन्ध त्याज्य नहीं माने जाते हैं—हिन्दुओं में भी प्रत्येक वर्ण में त्याज्य नहीं हैं। उसी वर्ण में भिन्न-भिन्न प्रान्त में भिन्न-भिन्न प्रथा है। दक्षिण में उच्च माने जाने वाले ब्राह्मणों में ऐसे सम्बन्ध त्याज्य नहीं, बल्कि स्तुत्य भी माने जाते हैं। मतलब यह है कि ऐसे विवाह-सम्बन्धी प्रतिबन्ध रूढ़ियों से बने हैं। यह देखने में नहीं आता कि ये प्रतिबन्ध किसी धार्मिक या तात्त्विक निर्णय से बने हैं। लेकिन नवयुवक वर्ग को यह भी नहीं चाहिए कि वह समाज के सब प्रतिबन्धों को छिन्न छिन्न करके फेंक दे। इसलिए मेरा यह अभिप्राय है कि किसी समाज में रूढ़ि का त्याग करवाने के लिए लोकमत तैयार कराने की आवश्यकता है। इस बीच व्यक्तियों को धैर्य रखना चाहिए। धैर्य न रख सकें तो बहिष्कारादि को सहन करना चाहिए।

दूसरी ओर, समाज का यह कर्त्तव्य है कि जो लोग समाज-बन्धन तोड़ें, उनके साथ निर्दयता का बर्ताव न किया जाय, बहिष्कारादि भी अहिंसक होने चाहिएँ। उक्त आत्महत्याओं का दोष जिस समाज में वे हुईं, उस पर अवश्य है, ऐसा ऊपर के पत्र से सिद्ध होता है।

—हरिजन-सेवक, १ मई, १९३७।

२. विवाह की मर्यादा

["व्यवहार में यह नियम उचित होगा कि समाज में वैवाहिक सम्बन्धों के विषय में जो प्रतिबन्ध प्रचलित हों, वे मान्य माने जायँ।"]

श्री हरिभाऊ उपाध्याय लिखते हैं :—

"हरिजन-सेवक के इसी अङ्क में 'धर्म-संकट' नामक आपका लेख पढ़ा। उसमें आपने लिखा है कि 'उक्त प्रकार के (अर्थात् मामा-भाञ्जी के सम्बन्ध-जैसे) सम्बन्ध का प्रतिबन्ध सर्वमान्य नहीं है।...ऐसे प्रतिबन्ध रूढ़ियों से बने हैं। यह देखने में नहीं आता कि वे प्रतिबन्ध किसी धार्मिक या तात्त्विक निर्णय से बने हैं।' मेरा अनुमान यह है कि वे प्रतिबन्ध शायद सन्तानोत्पत्ति की दृष्टि से लगाये गये हैं। इस शास्त्र के ज्ञाता ऐसा मानते हैं कि विजातीय तत्वों के मिश्रण से सन्तति अच्छी होती है। इसलिए सगोत्र और सपिण्ड कन्याओं का पाणिग्रहण नहीं किया जाता। यदि यह माना जाय कि यह केवल रूढ़ि है, तो फिर सगी और चचेरी बहिनों के सम्बन्ध पर भी कैसे आपत्ति उठाई जा सकती है? यदि विवाह का हेतु सन्तानोत्पत्ति ही है और सन्तानोत्पादन के ही लिए दम्पति का संयोग करना योग्य है, तो फिर वर-कन्या के चुनाव के औचित्य की कसौटी सुप्रजनन की क्षमता ही होनी चाहिए। क्या और कसौटियाँ गौण समझी जायँ? यदि हाँ, तो किस क्रम से? यह प्रश्न सहज उठता है। मेरी राय में वह इस प्रकार होना चाहिए—

(१) पारस्परिक आकर्षण और प्रेम।

(२) सुप्रजनन की क्षमता।

(३) कौटुम्बिक और व्यावहारिक सुविधा।

(४) समाज और देश की सेवा।

(५) आध्यात्मिक उन्नति।

आपका इस सम्बन्ध में क्या मत है?

"हिन्दूशास्त्रों में पुत्रोत्पत्ति पर जोर दिया गया है। सधवाओं को

आशीर्वाद दिया जाता है, 'अष्टपुत्रा सौभाग्यवती भव।' आप जो यह प्रतिपादन करते हैं कि दम्पति सन्तान के लिए संयोग करें तो इसका क्या यही अर्थ है कि सिर्फ एक ही सन्तान उत्पन्न करें, फिर वह लड़का हो या लड़की? वंशवर्द्धन की इच्छा के साथ ही 'पुत्र से नाम चलता है' यह इच्छा भी जुड़ी हुई मालूम होती है। केवल लड़की से इस इच्छा का समाधान कैसे हो सकता है? बल्कि अभी तक समाज में लड़की के जन्म का उतना स्वागत नहीं होता, जितना लड़के के जन्म का होता है। इसलिए यदि इन इच्छाओं को सामाजिक माना जाय तो फिर एक लड़का और एक लड़की—इस तरह दो सन्तति पैदा करने की छूट देना क्या अनुचित होगा?

"केवल सन्तानोत्पादन के लिए संयोग करने वाले दम्पति ब्रह्मचारी-वत् समझे जाने चाहिएँ, यह ठीक है। यह भी सही है कि संयत जीवन में एक ही बार के संयोग से गर्भ रह जाता है। पहली बात की पुष्टि में एक कथा प्रचलित है। वसिष्ठ की कुटिया के सामने एक नदी बहती थी। दूसरे किनारे विश्वामित्र तप करते थे। वसिष्ठ गृहस्थ थे। जब भोजन पक जाता, तो पहले अरुन्धती थाल परोस कर विश्वामित्र को खिलाने जाती, बाद को वसिष्ठ के घर पर सब लोग भोजन करते। यह नित्यक्रम था। एक रोज बारिश हुई नदी में बाढ़ आ गई। अरुन्धती उस पार न जा सकी। उसने वसिष्ठ से इसका उपाय पूछा। उन्होंने कहा—'जाओ, नदी से कहना, मैं सदानिराहारी विश्वामित्र को भोजन देने जा रही हूँ, मुझे रास्ता दे दो।' अरुन्धती ने इसी प्रकार नदी से कहा और उसने रास्ता दे दिया। तब अरुन्धती के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ कि विश्वामित्र रोज तो खाना खाते हैं, फिर निराहारी कैसे हुए? जब विश्वामित्र खाना खा चुके, तब अरुन्धती ने उनसे पूछा—'मैं वापिस कैसे जाऊँ नदी में तो बाढ़ है?' विश्वामित्र ने उलट कर पूछा—'तो आई कैसे?' अरुन्धती ने उत्तर में वसिष्ठ का पूर्वोक्त नुस्खा बतलाया। तब विश्वामित्र ने कहा—'अच्छा, तुम नदी से कहना, सदाब्रह्मचारी वशिष्ठ के

यहाँ लौट रही हूँ, नदी मुझे रास्ता देदो।' अरुन्धती ने ऐसा ही किया और उसे रास्ता मिल गया। अब तो इसके अचरज का ठिकाना न रहा। वसिष्ठके सौ पुत्रों की तो वह स्वयं ही माता थी। उसने वसिष्ठसे इसका रहस्य पूछा कि विश्वामित्र को सदानिराहारी और आपको सदाब्रह्मचारी कैसे मानूँ? वसिष्ठ ने बताया—'जो केवल शरीर-रक्षण के लिए ही ईश्वरार्पण बुद्धि से भोजन करता है वह नित्य भोजन करते हुए भी निराहारी ही है, और जो केवल स्वधर्म-पालन के लिए अनासक्तिपूर्वक सन्तानोत्पादन करता है, वह सम्भोग करते हुए भी ब्रह्मचारी ही है।'

परन्तु इसमें और मेरी समझ में तो शायद हिन्दूशास्त्र में भी केवल एक सन्तति—फिर वह कन्या हो या पुत्र—का विधान नहीं है। अतएव यदि आपको एक पुत्र और एक पुत्री का नियम मान्य हो, तो मैं समझता हूँ, बहुतेरे दम्पतियों को समाधान हो जाना चाहिए। अन्यथा मुझे तो ऐसा लगता है कि बिना विवाह किये एक बार ब्रह्मचारी रह जाना शक्य हो सकता है, परन्तु विवाह करने पर केवल सन्तानोत्पादन के लिए और फिर भी प्रथम सन्तति के ही लिए सम्भोग करके फिर आजन्म संयम से रहना उससे कहीं कठिन है। मेरा तो ऐसा मत बनता जा रहा है कि 'काम' मनुष्य में स्वाभाविक प्रेरणा है; उसमें संयम सुसंस्कार का सूचक है। 'सन्तति के लिए सम्भोग' का नियम बना देने से सुसंस्कार, संयम या धर्म की तरफ मनुष्य की गति होती है इसलिए वह वांछनीय है। सन्तानोत्पत्ति के ही लिए सम्भोग करने वाले संयमी का आदर करूँगा, कामेच्छा की तृप्ति करने वाले को भोगी कहूँगा, पर उसे पतित नहीं मानना चाहता, न ऐसा वातावरण ही पैदा करना ठीक होगा कि पतित समझ कर लोग उसका तिरस्कार करें। इस विचार में मेरी कहीं गलती होती हो तो बतावें।"

मुझे पता नहीं है कि विवाह सम्बन्धों पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये हैं उनका वैज्ञानिक आधार क्या है पर इतना तो मुझे स्पष्ट है कि जो सामाजिक रूढ़ि सदाचार तथा आत्मसंयम का पालन करने में सहायता

पहुँचाती है, उसे नैतिक नियम मान लेना चाहिए। सन्तान-हित की दृष्टि से अगर भाई-बहिन के सम्बन्ध का प्रतिबन्ध योग्य है, तो चचेरी बहिन इत्यादि पर भी प्रतिबन्ध होना चाहिए। इसलिए व्यवहार में यह नियम उचित होगा कि समाज में वैवाहिक सम्बन्धों पर जो प्रतिबन्ध प्रचलित हों, वे मान्य माने जायँ।

आदर्श विवाह के लिए हरिभाऊजी ने जो पाँच शर्तें रखी हैं, वे साधारणतया मुझे मान्य हैं। पर मैं उनके क्रम में परिवर्तन करना चाहूँगा, पारस्परिक आकर्षण और प्रेम को अन्तिम स्थान देना चाहिए। अगर उसे प्रथम स्थान दिया जाय, तो दूसरी सब शर्तें उसके आश्रय में जाने से निरर्थक बन सकती हैं, इसलिए उक्त क्रम में आध्यात्मिक उन्नति को प्रथम स्थान देना चाहिए। समाज और देश-सेवा को दूसरा स्थान दिया जाय। कौटुम्बिक और व्यावहारिक सुविधा को तीसरा। पारस्परिक आकर्षण और प्रेम को चौथा। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस जगह इन प्रथम तीन शर्तों का अभाव हो, वहाँ पारस्परिक प्रेम को स्थान नहीं मिल सकता। अगर प्रेम को प्रथम स्थान दिया जाय, तो वह सर्वोपरि बनकर दूसरों की अवगणना कर सकता है और करता है, ऐसा आजकल के व्यवहार में देखने में आता है। प्राचीन और अर्वाचीन कहानियों में भी यह पाया जाता है। इसलिए यह कहना होगा कि उपर्युक्त तीन शर्तों का पालन होते हुए भी जहाँ पारस्परिक आकर्षण नहीं है, वहाँ विवाह त्याज्य है। सुप्रजनन की क्षमता को शर्त न माना जाय, क्योंकि यही एक वस्तु विवाह का कारण है, विवाह की शर्त नहीं।

हिन्दूशास्त्र में पुत्रोत्पत्ति पर अवश्य जोर दिया गया है। यह उस काल के लिए ठीक था, जब समाज में शस्त्रयुद्ध को अनिवार्य स्थान मिला हुआ था, और पुरुषवर्ग की बड़ी आवश्यकता थी। उसी कारण एक से अधिक पत्नियों की भी इजाजत थी और अधिक पुत्रों से अधिक बल माना जाता था। धार्मिक दृष्टि से देखें, तो एक ही सन्तति 'धर्मज' या 'धर्मजा' है। मैं पुत्र और पुत्री के बीच भेद नहीं करता हूँ; दोनों एक

समान स्वागत के योग्य हैं।

वसिष्ठ विश्वामित्र का दृष्टान्त साररूप में अच्छा है। उसे शब्दशः सत्य अथवा शक्य मानने की आवश्यकता नहीं। उससे इतना ही सार निकालना काफी है कि सन्तानोत्पत्ति के ही अर्थ किया हुआ संयोग ब्रह्मचर्य का विरोधी नहीं है। कामाग्नि की तृप्ति के लिए किया हुआ संयोग त्याज्य है। उसे निन्द्य मानने की आवश्यकता नहीं। असंख्य स्त्री-पुरुषों का मिलन भोग के ही कारण होता है और होता रहेगा। इस प्रकार उसमें जो दुष्परिणाम होते रहते हैं उन्हें भी भोगना पड़ेगा। जो मनुष्य अपने जीवन को धार्मिक बनाना चाहते हैं, जो जीवमात्र की सेवा को आदर्श समझकर संसार-यात्रा समाप्त करना चाहते हैं, उन्हीं के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य अथवा विवाहित ब्रह्मचर्य का आदर्श है। इस प्रकार के जीवन के लिए वह आदर्श आवश्यक भी है।

—हरिजन-सेवक, १५ मई, १९३७]

— —

[९]

विवाहित जीवन की कठिनाइयाँ

—०※०—

१. हिन्दू पत्नी

["आज भी लाखों हिन्दू ललनाएँ अपनी गृहस्थी की रानी बनकर पूर्ण सन्तोष और सुख का जीवन बिताती है। वे अपने पतियों पर इतना प्रभुत्व रखती हैं कि कोई भी साधारण स्त्री उनसे ईर्ष्या कर सकती है। यह प्रभुत्व उन्हें प्रेम के कारण प्राप्त होता है।... हमारी अनेक और-और बुराइयों के समान ही बेबसी की भावना भी एक काल्पनिक बुराई है। दूषित कल्पना के कारण शोक और दुःख का जो साम्राज्य समाज में फैला हुआ है वह थोड़े से मौलिक विचार और नया दृष्टिकोण पाते ही नष्ट हो जायगा।"]

नीचे एक भाई के लम्बे पत्र का सारांश दे रहा हूँ, जिसमें उन्होंने अपनी विवाहिता बहिन के दुःखों का वर्णन किया है :—

'थोड़े समय पहले मेरी बहिन का ब्याह एक ऐसे व्यक्ति के साथ हो गया, जिसके चारित्र्य से हम अनजान थे। वह व्यक्ति बाद में इतना लम्पट और विषयी साबित हुआ है कि अनन्त व्यभिचार और विषय-भोग करते हुए भी उसकी वासना तृप्त नहीं होती। मेरी अभागिनी बहिन को ब्याह के बाद शीघ्र ही पता चला कि उसके 'स्वामी' दिन-दिन निर्बल होते जा रहे हैं। उसने उन्हें समझाया। लेकिन वह उसकी इस उद्धतता को सह न सके और उसे 'सबक सिखाने' की गरज से उसके सामने ही व्यभिचार करने लगे। वह उसे बेतों से मारते, खड़ी रखते, औंधी टाँगते

और भूखों मरने को विवश करते हैं। एक बार अपने 'स्वामी' की व्यभिचार-लीला को प्रत्यक्ष देखने के लिए बहिन एक खम्भे से बाँध दी गई, जिससे वह भाग न सके। मेरी बहिन का हृदय टूक-टूक हो गया है। उसकी निराशा की हद नहीं। उसके सन्ताप को देखकर हमारा हृदय जल उठता है। लेकिन हम लाचार हैं। कृपाकर बतलाइए, हम या हमारी बहिन क्या करें? हिन्दू धर्म की लज्जाजनक अवस्था का यह एक चित्र है—उस हिन्दूधर्म का, जिसमें स्त्रियों को सर्वथा पुरुषों की दया पर निर्भर रहना पड़ता है, जिसमें स्त्रियों को न कोई अधिकार प्राप्त है और न रियायतें ही। अगर पुरुष निर्दय और हृदयहीन है तो बेचारी स्त्री का इस दुनिया में कहीं कोई सहारा नहीं। पुरुष अपने जीवन में चाहे जितना व्यभिचार, चाहे जितने विवाह करे, कोई उसकी ओर अँगुली उठानेवाला नहीं। लेकिन स्त्री जहाँ एक बार ब्याही गई कि उसे सर्वथा अपने स्वामी की दया का पात्र बनकर रहना पड़ता है। एक-दो नहीं, हजारों बहिनें इस अन्याय का शिकार बनकर रात-दिन आर्त स्वर से रोती-कलपती रहती हैं। जब तक हिन्दू धर्म से इस और ऐसी ही अन्य बुराइयों का नाश नहीं होता, उन्नति की क्या आशा की जा सकती है?"

पत्र-लेखक एक सुशिक्षित व्यक्ति हैं। उन्होंने अपने लम्बे पत्र में अपनी बहिन के दुःखों का रोमाञ्चकारी चित्र खींचा है; इस सारांश में वे सारी बातें नहीं आ सकीं। पत्र-लेखक ने अपना पूरा नाम और पता भी भेजा है। उन्होंने हिन्दूधर्म की जो निन्दा की है, वह असीम दुःख की वेदना का परिणाम होने से क्षम्य भले ही हो, किन्तु उनका यह सर्व व्यापी कथन एक उदाहरण के आधार पर खड़ा किया गया है, अतः अतिरञ्जित है। आज भी लाखों हिन्दू ललनाएँ अपनी गृहस्थी की रानी बनकर पूर्ण सन्तोष और सुख का जीवन बिताती हैं। वे अपने पतियों पर इतना प्रभुत्व रखती हैं कि कोई भी साधारण स्त्री उनसे ईर्ष्या कर सकती है। यह प्रभुत्व उन्हें प्रेम के कारण प्राप्त होता है। पत्र-लेखक ने निर्दयता का जो उदाहरण उपस्थित किया है वह हिंदूधर्म की बुराई

का चिह्न नहीं, बल्कि मनुष्य-स्वभाव में निहित उस बुराई का नमूना है, जो किसी एक ही जाति या धर्म के मनुष्यों में नहीं पाई जाती, वरन सब जातियों और सब धर्मों के मनुष्यों में मिलती है। क्रूर पति के खिलाफ़ तलाक दे देने की प्रथा से भी उन स्त्रियों की रक्षा नहीं हुई है, जो न तो अपना अधिकार जताना जानती हैं और न जताना चाहती हैं। अतएव सुधारकों को चाहिए कि वे और नहीं तो सिर्फ सुधारों के खातिर ही अति-रञ्जना या अतिशयोक्ति से काम लेने से बाज आयें।

फिर भी इस पत्र में जिस घटना का उल्लेख किया गया है वैसी घटनाएँ हिन्दू समाज के लिए सर्वथा असाधारण नहीं हैं। हिन्दू संस्कृति ने स्त्री को पति की अत्यधिक गुलाम बनाकर और उसे पति के सर्वथा अधीन रखकर बड़ी भारी भूल की है। इसके कारण पति कभी-कभी अपने अधिकार का दुरुपयोग करते हैं और पशुवत् व्यवहार करने पर उतारू हो हो जाते हैं। इस तरह के अत्याचार का उपाय कानून का आश्रय लेने में नहीं, बल्कि विवाहिता स्त्रियों को सच्चे अर्थ में सुशिक्षित बनाने और पतियों के अमानुषी अत्याचार के विरुद्ध लोकमत जाग्रत करने में है। प्रस्तुत मामले में जिस उपाय से काम लेना चाहिए वह अत्यन्त सरल है। इस सङ्कटग्रस्त बहिन के दुःख को देखकर रोने या अपनी बेबसी का अनुभव करने के बजाय उसके भाई और दूसरे रिश्तेदारों को चाहिए कि वे उसकी रक्षा करें, उसे यह समझायें, सिखायें और विश्वास दिलायें कि एक पापी—दुराचारी—पति को खुशामद करना या उसकी सङ्गति की आशा रखना उसका कर्त्तव्य नहीं है। यह तो स्पष्ट ही है कि उसका पति उसकी ज़रा भी चिन्ता नहीं करता, तनिक भी पर्वा नहीं रखता। अतएव कानूनी बन्धन को तोड़े बिना ही वह अपने पति से अलग रह सकती है और अपने आप यह अनुभव कर सकती है कि उसका व्याह कभी हुआ ही नहीं। अवश्य ही एक हिन्दू पत्नी के लिए, जो तलाक नहीं दे सकती, इस सम्बन्ध में क़ानून की रू से भी दो मार्ग खुले हैं: एक मारपीट करने के कारण पति को सजा दिलाने का और दूसरा उससे जीविका के लिए

आजीवन सहायता पाने का। लेकिन अनुभव से मुझे पता चला है कि सर्वदा नहीं तो बहुधा अवश्य ही ये उपाय निरर्थक से भी बुरे सिद्ध हुए हैं। इनके कारण किसी भी सती स्त्री को कभी सुख नहीं मिला, उल्टे पति का सुधार असम्भव नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य बन गया है। समाज को इस रास्ते कदापि नहीं जाना चाहिए; पत्नी को तो किसी भी हालत में नहीं। प्रस्तुत मामले में तो लड़की के माता पिता उसका निर्वाह करने में सब तरह समर्थ हैं, लेकिन जिन सताई हुई स्त्रियों को यह आश्रय प्राप्त न हो, उन्हें भी आश्रय देनेवाली अनेक संस्थाएँ देश में दिन-दिन बढ़ रही हैं। एक और प्रश्न रह जाता है: वे युवती स्त्रियाँ, जो अपने क्रूर पति का साथ छोड़कर अलग हो जाती हैं; या जिन्हें पति स्वयं घर से निकाल देते हैं और जो तलाक से मिलनेवाली सुविधा प्राप्त नहीं कर सकतीं, अपनी विषयेच्छा कैसे तृप्त करेंगी? मेरे विचार में यह कोई इतना गम्भीर प्रश्न नहीं है; क्योंकि जिस समाज ने युगों से तलाक की प्रथा को त्याज्य मान रखा है, उस समाज की स्त्रियाँ एक बार वैवाहिक जीवन का कटु अनुभव पा लेने पर दुबारा विवाह करना ही नहीं चाहतीं। जब किसी समाज का लोकमत इस तरह की सुविधा प्राप्त करना चाहता है, तो मेरे विचार में निस्सन्देह उसे वह मिल भी जाती है। पत्र-लेखक के पत्र से जहाँतक मैं समझ सका हूँ, उनकी यह शिकायत तो नहीं है कि पत्नी अपनी विषयेच्छा नहीं तृप्त कर सकती। शिकायत तो पति के भयङ्कर और निरङ्कुश व्यभिचार की है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, मनोवृत्ति को पलट देना ही इसका उपाय है। हमारी अनेक और-और बुराइयों के समान ही बेबसी की भावना भी एक काल्पनिक बुराई है। दूषित कल्पना के कारण शोक और दुःख का जो साम्राज्य समाज में फैला हुआ है वह थोड़े से मौलिक विचार और नया दृष्टिकोण पाते ही नष्ट हो जायगा। ऐसे मामलों में मित्रों और रिश्तेदारों को चाहिए कि वे अत्याचार के शिकार को शिकारी के पञ्जे से छुड़ाकर ही सन्तोष न मान बैठें; बल्कि ऐसी स्त्री को

समझाकर उसे सार्वजनिक सेवा के योग्य बनाने का प्रयत्न करें। इन स्त्रियों के लिए इस तरह की शिक्षा पति के शङ्कास्पद सहवास से कहीं अधिक सुखद और लाभप्रद होगी।

हिंदी नवजीवन, ३ अक्टूबर, १९२९]

२. जटिल प्रश्न

["मैं सीता को आदर्श पत्नी और राम को आदर्श पति मानता हूं। सीता राम की गुलाम नहीं थीं। अथवा दोनों एक दूसरे के गुलाम थे। जब पत्नी अपने को सही समझे और किसी महत् उद्देश्य से पति का विरोध करे तब उसे पूरा अधिकार है कि वह अपने मन के मार्ग पर चले और इसके परिणाम का नम्रता के साथ वीरतापूर्वक सामना करे।"]

एक महिला ने, जिन्हें मेरी बुद्धिमत्ता और सचाई पर कुछ विश्वास है, मुझसे कुछ जटिल प्रश्न पूछे हैं। इन प्रश्नों का उत्तर टाल जाने में मुझे खुशी होती, क्योंकि मुझे भय है कि कहीं अपने स्वत्वों की चिन्ता करने वाले कुछ पति कहीं क्रोधपूर्ण वादविवाद न छेड़ बैठें। लेकिन ऐसे पति शायद मुझ पर दया करेंगे, क्योंकि वे जानते हैं कि मैं स्वयं इसी कोटि के पतियों में हूँ और मैंने बीच बीच में कुछ खटपट हो जाने पर भी विगत ४० वर्ष सुखी दाम्पत्य जीवन में काटे हैं।

पहला प्रश्न उचित और सामयिक है। इन प्रश्नों की मूल भाषा मराठी है। मैंने उसका स्वतन्त्र अनुवाद किया है।

"क्या किसी पुरुष अथवा स्त्री को रामनाम के उच्चारण-मात्र से, राष्ट्रीय सेवा में भाग लिये बिना ही, आत्मदर्शन प्राप्त हो सकता है? मैंने यह प्रश्न इसलिए पूछा है कि मेरी कुछ बहिनें कहा करती हैं कि हमें

गृहस्थी का कामकाज करने तथा यदा-कदा गरीबों के प्रति दया भाव दिखाने के अतिरिक्त और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है।"

इस प्रश्न ने केवल स्त्रियों को ही नहीं, बल्कि बहुतेरे पुरुषों को भी उलझन में डाल रखा है और मुझे भी इसने संकट में डाल दिया है। मुझे मालूम है कि कुछ लोग इस सिद्धान्त को मानने वाले हैं कि काम करने की कोई आवश्यकता नहीं है और प्रयत्न व्यर्थ है। मैं इस सिद्धान्त को अच्छा नहीं कह सकता। अगर मुझे इसे स्वीकार करना ही पड़े तो इसके अपने ही अर्थ लगाकर इसे स्वीकार करूँगा। मेरी नम्र सम्मति में अपने विकास के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। इसका फल क्या मिलेगा, इसपर ध्यान दिये बिना प्रयत्न किया जाना चाहिए। रामनाम, या ऐसा ही पवित्र अन्य कोई नाम, आवश्यक है, केवल नामोच्चारण के लिए ही नहीं, बल्कि आत्मशुद्धि के लिए, प्रयत्न में सहारा पाने के लिए और ईश्वर से पथप्रदर्शन के लिए। इस लिए रामनाम कभी प्रयत्न का स्थान नहीं ले सकता, वह तो प्रयत्न को अधिक तीव्र बनाने तथा उसे उचित मार्ग पर निर्दिष्ट करने के लिए है। यदि सभी प्रयत्न व्यर्थ है तो फिर घर गृहस्थी की चिन्ता क्यों, यदा कदा गरीबों को सहायता क्यों? इसी प्रयत्न में राष्ट्र सेवा का अङ्कुर मौजूद है। और राष्ट्र-सेवा का अर्थ, मेरे निकट, मानव-जाति की सेवा है। इसी प्रकार निर्लिप्त भाव से कुटुम्ब की सेवा भी मानव-जाति की सेवा है। निर्लिप्त भाव से की गई कुटुम्ब की सेवा, अवश्य ही, राष्ट्र-सेवा की ओर ले जाती है। रामनाम मनुष्य को निर्लिप्त और दृढ़ बनाता है, वह उसे आपत्तिकाल में धर्मच्युत नहीं होने देता। मेरा मत है कि गरीब से गरीब लोगों की सेवा किये तथा उनके हित में अपना हित माने बिना आत्मदर्शन असम्भव है।

दूसरा प्रश्न है :—

"हिन्दूधर्म में पत्नी के लिए पतिपरायणता तथा उसके निकट सम्पूर्ण आत्मसमर्पण ही सर्वोच्च आदर्श माना गया है, चाहे पति राक्षस हो

अथवा प्रेम का अवतार हो। यदि पत्नी के लिए यही सही मार्ग है तो क्या वह पति का विकट विरोध होते हुए भी राष्ट्र-सेवा का व्रत ले सकती है? अथवा उसका धर्म अपने पति-द्वारा निर्दिष्ट सीमा के भीतर ही काम करना है?"

मैं सीता को आदर्श पत्नी और राम को आदर्श पति मानता हूँ। सीता राम की गुलाम नहीं थीं। अथवा दोनों एक दूसरे के गुलाम थे। राम सदा सीता का ध्यान रखते हैं। जहाँ सच्चा प्रेम होता है वहाँ यह प्रश्न उठता ही नहीं है। और जहाँ सच्चा प्रेम नहीं होता, वहाँ किसी प्रकार का बन्धन कभी रहा ही नहीं है। आजकल की हिन्दू गृहस्थी एक जटिल पहेली है। पति और पत्नी, विवाह हो जाने के बाद भी, एक दूसरे के बारे में कुछ नहीं जानते। शास्त्राज्ञा, रीति-रिवाज तथा दम्पतियों की निष्कण्टक जिन्दगी अधिकांश हिन्दू घरों में शान्ति बनाये रखती है। लेकिन जब पति अथवा पत्नी में से किसी के विचार साधारण प्रचलित विचारों से भिन्न होते हैं तो खटपट हो जाने का भय रहता है। पति की बात तो यह है कि उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य की चिन्ता नहीं सताती। वह यह नहीं सोचता कि अपनी जीवन-सहचरी से भी परामर्श ले लेना उसका कर्त्तव्य है। वह अपनी भार्या को अपनी सम्पत्ति मानता है। और बेचारी पत्नी, जो अपने पति के दावे पर विश्वास करती है, बहुधा अपने को दबा लिया करती है। पर मैं समझता हूँ कि इस स्थिति से उबरने का रास्ता है। मीराबाई ने यह मार्ग दिखा दिया है। जब पत्नी अपने को सही समझे और कोई महत् उद्देश्य लेकर पति का विरोध करे तब उसे पूरा अधिकार है कि वह अपने मन के मार्ग पर चले और इसके परिणाम का नम्रता के साथ वीरतापूर्वक सामना करे।

तीसरा प्रश्न है :—

'यदि किसी स्त्री का पति मांसाहारी है और वह स्त्री मांस-भक्षण बुरा समझती है तो क्या वह अपने मन पर चल सकती है? क्या वह

प्रेमपूर्ण साधनों से अपने पति को मांसाहार या इसी तरह की कोई बुरी आदत से छुड़ाने का प्रयत्न कर सकती है? अथवा वह पत्नी बाध्य है कि पति के लिए मांस पकावे और इससे भी बुरी बात यह कि यदि पति कहे तो स्वयं मांस खावे? अगर आपका कहना है कि पत्नी अपने मन के अनुसार चल सकती है तो इस सूरत में संयुक्त गृहस्थी कैसे चल सकती है, जब कि घर में एक तो बाध्य करता है और दूसरा विद्रोह करता है?"

इस प्रश्न का आंशिक उत्तर दूसरे प्रश्न के उत्तर में आ गया है। पति के पापों में पत्नी का हाथ बँटाना लाज़मी नहीं है। यदि पत्नी किसी बात को बुरा समझती है तो उसमें सही रास्ते पर चलने का साहस होना चाहिए। लेकिन यह विचारते हुए कि पत्नी का काम तो घरका कामकाज सम्हालना और खाना बनाना है--जिस प्रकार पति का काम गृहस्थी के लिए धन कमाना है—वह उस समय परिवार के लिए मांस पकाने के लिए बाध्य है, जब कि वह स्वयं भी पहले मांसाहारी रही हो। लेकिन यदि किसी शाकाहारी कुटुम्ब में पति मांसाहारी बन जाय और अपनी पत्नी को मांस पकाने के लिए बाध्य करे तो पत्नी ऐसी चीज़ पकाने के लिए बाध्य नहीं है जो उसकी कर्त्तव्य-भावना के विरुद्ध है। घर में शान्ति अभीष्ठ वस्तु है। पर वह स्वतः एक ध्येय तो नहीं हो सकती। मेरे लिए तो विवाहित अवस्था भी ठीक उसी प्रकार संयम की अवस्था है, जिस प्रकार अन्य कोई अवस्था। जीवन कर्त्तव्य है: उम्मीदवारी है। विवाहित जीवन का मन्तव्य पारस्परिक लाभ है, इस लोक में भी और इस लोक के बाद भी। उसका अर्थ मानव-जाति की सेवा भी है। जब दोनों में से एक संयम के नियम का उल्लंघन करता है तो दूसरे को उस बन्धन को तोड़ देने का अधिकार हो जाता है। यहाँ बन्धन तोड़ने का तात्पर्य नैतिक बन्धन से है, शारीरिक बन्धन से नहीं। इसमें तलाक की गुञ्जाइश नहीं। पति अथवा पत्नी एक दूसरे से अलग भले ही हो जायँ, लेकिन उनका उद्देश्य उसी ध्येय की पूर्ति करना होता है, जिसके लिए उनका गठबन्धन

हुआ था। हिन्दू-धर्म में पति-पत्नी में से दोनों को सम्पूर्णतया एक दूसरे के समान माना गया है। इसमें शक नहीं कि रिवाज कुछ दूसरा ही चल पड़ा है; पता नहीं यह रिवाज कब से चला है। पर इस प्रकार के तो और कितने ही दोष घुस आये हैं। फिर भी मैं इतना अवश्य जानता हूँ कि हिन्दू-धर्म में स्त्री और पुरुष को आत्मदर्शन के लिए—मात्र जिसके लिए उनका जन्म हुआ है, चाहे जिस मार्ग पर चलने की पूरी स्वाधीनता है।

—हिन्दी नवजीवन, २१ अक्टूबर, १९२६]

[१०]

परदा-कुप्रथा
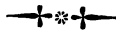
१. परदे की कुप्रथा

["क्या परदा और क्या दूसरे सुधारों को करने का सबसे सरल उपाय अपने से आरम्भ करना है। हमारे कर्म का अच्छा परिणाम देखकर दूसरे उसका अपने-आप अनुकरण करेंगे।"]

कोई बात प्राचीन है इसलिए वह अच्छी है, ऐसा मानने से बहुत गलतियाँ होती हैं। यदि प्राचीन सब अच्छा ही होता तो पाप कम प्राचीन नहीं है। परन्तु पाप चाहे कितना भी प्राचीन हो त्याज्य है। अस्पृश्यता प्राचीन है, परन्तु पाप है इसलिए वह सर्वथा त्याज्य है। शराबखोरी, जुआ इत्यादि प्राचीन हैं परन्तु पाप हैं, इसलिए त्याज्य हैं। परदा कितना ही प्राचीन क्यों न हो, आज बुद्धि उसको स्वीकार नहीं कर सकती है। परदे से होनेवाली हानि स्वयंसिद्ध है। बहुत-सी बातों का आदर्श अर्थ करके उनका समर्थन किया जाता है, पर परदे के सम्बन्ध में तो ऐसा भी नहीं किया जा सकता। आज हम जिस हालत में परदे को पाते हैं उसका समर्थन करना असम्भव है।

सच्ची बात तो यह है कि परदा कोई बाहरी वस्तु नहीं, बल्कि एक आन्तरिक वस्तु है। बाहरी परदा करनेवाली कितनी ही स्त्रियाँ निर्लज्जा होती हैं। जो स्त्री बाहरी परदा तो नहीं करती, पर आन्तरिक लज्जा जिसने नहीं छोड़ी है वह पूजनीया है। और ऐसी स्त्रियाँ आज भी संसार में वर्तमान हैं।

प्राचीन ग्रन्थों में हम ऐसी बातें भी पाते हैं, जिनका पहले बाह्य अर्थ किया जाता था, पर अब आन्तरिक अर्थ किया जाता है। ऐसा

एक शब्द यज्ञ है। पशुहिंसा सच्चा यज्ञ नहीं है। शुद्ध यज्ञ पाशवी वृत्तियों को जलाना है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलेंगे। इसलिए जो लोग हिन्दू जाति में सुधार करना और उसकी रक्षा करना चाहते हैं, उन्हे प्राचीन दृष्टान्तों से डरने की आवश्यकता नहीं है। हमें प्राचीन सिद्धान्तों से बढ़कर नये सिद्धान्त नहीं मिलेंगे। परन्तु उन सिद्धान्तों पर व्यवहार करने में नित्य परिवर्तन करना होगा। परिवर्तन उन्नति का एक लक्षण है। स्थिरता अवनति का आरम्भ है। जगत् नित्य गतिमान है। स्थिरता शव में है। वह मृत्यु का लक्षण है। यहाँ योगी की स्थिरता की बात नहीं है। योगी की स्थिरता में तीव्रतम गति है। उस स्थिरता में आत्मा का तीव्रतम जागरण है। यहाँ जड़ स्थिरता की बात है। उसका दूसरा नाम जड़ता कहा जा सकता है। जड़ता के वश होकर हम सब प्राचीन कुप्रथाओं का समर्थन करने को उत्सुक हो जाते हैं। यह जड़ता हमारी उन्नति रोकती है।

अब परदे से होनेवाली हानियों को देखें :—

१. परदा स्त्रियों की शिक्षा में बाधा डालता है। २. स्त्रियों में भीरुता बढ़ाता है। ३. स्त्रियों का स्वास्थ्य बिगाड़ता है। ४. स्त्रियों और पुरुषों के बीच स्वच्छ सम्बन्ध रोकता है। ५. स्त्रियों की नीच वृत्ति का पोषण करता है। ६. स्त्रियों को बाहरी दुनिया से दूर रखता है, जिससे वे उसके योग्य अनुभव से वञ्चित रहती हैं। ७. अर्द्धाङ्गिनी होने का धर्म निबाहने में बाधा डालता है। ८. पर्दानशीन स्त्रियाँ स्वराज्य में अपना पूरा भाग नहीं ले पातीं। ९. परदे से बालिकाओं की शिक्षा में रुकावट पड़ती है।

इन सब हानियों को देखते हुए सब विचारशील हिन्दुओं का धर्म है कि वे परदा तोड़ दें।

क्या परदा और क्या दूसरे सुधारों को करने का सबसे सरल उपाय अपने से आरम्भ करना है। हमारे कार्य का अच्छा परिणाम देख कर दूसरे उसका अपने आप अनुकरण करेंगे! सुधारक कभी विनय और मर्यादा का त्याग नहीं करेगा। परदा तोड़ने का हेतु यदि संयम है तो

परदा तोड़ना कर्त्तव्य है और वह तोड़ा जा सकता है। यदि परदा तोड़ने का हेतु स्वच्छन्दता है तो परदा टूट नहीं सकता, क्योंकि तब जनता में क्रोध पैदा होगा और क्रोध के वश जनता बुद्धि का त्याग कर कुप्रथा का भी समर्थन करने लगेगी। जनता का हृदय पवित्र है। इसलिए जनता अपवित्र हेतु का कभी आदर नहीं करेगी।'

-- हिंदी नवजीवन, २७ जून, १९२९]

२. परदे को फाड़ फेंको

[''पवित्रता कुछ बन्द घर के भीतर नहीं पनपती। वह ऊपर से भी लादी नहीं जा सकती। परदे की चहारदीवारी खड़ी करके उसकी रक्षा नहीं की जा सकती। उसे तो भीतर से पैदा होना चाहिए। और अगर उसका कुछ मूल्य है तो उसे हर प्रकार के अनिमन्त्रित प्रलोभन का तिरस्कार कर सकने में समर्थ होना चाहिए।'']

जब कभी मैं बङ्गाल, विहार या संयुक्तप्रान्त में गया हूँ, तो मैंने देखा है कि वहाँ अन्य प्रान्तों की अपेक्षा परदे का कड़ाई से पालन होता है। दरभंगे में, रात के समय, जब मैंने कोलाहल से दूर और अदम्य भीड़ से अलग शान्तिपूर्ण वातावरण में, एक सभा में भाषण किया तो मैंने अपने सामने पुरुषों को और अपने पीछे परदे की आड़ में स्त्रियों को पाया। × × × मुझसे परदे के पीछे स्त्रियों के बीच भाषण करने के लिए कहा गया। × × × मुझे बहुत ही दुःख हुआ और ऐसा लगा कि मेरा बहुत अपमान हुआ है। मैंने मन में विचारा कि इस बर्बर प्रथा से चिपटे रहकर पुरुष स्त्रियों पर कितना अत्याचार करते हैं। जिस समय इस प्रथा का आरम्भ हुआ था उस समय इसकी उपयोगिता चाहे जो रही हो, पर अब तो यह पूर्ण रूप से व्यर्थ है और देश को अपार हानि पहुँचा रही है। × × × मैं देखता हूँ कि शिक्षित परिवारों में भी परदा

बना हुआ है। इसका कारण यह नहीं है कि शिक्षित पुरुषों को परदे में विश्वास है, बल्कि यह है कि वे इस बर्बर प्रथा का पौरुष के साथ विरोध करके, इसे एकबारगी मिटा नहीं देते। मुझे स्त्रियों की सैकड़ों सभाओं में, जिसमें हजारों स्त्रियाँ उपस्थित थीं, भाषण देने का सुअवसर मिला है। इन सभाओं में इतना कोलाहल होता है कि उपस्थित स्त्रियों से बोलकर उनपर कुछ प्रभाव डालना असम्भव हो जाता है। जब तक स्त्रियाँ अपने घर और आँगन की चहारदीवारी में, पिंजरे की चिड़िया की तरह, बन्द हैं तब तक उनसे और क्या आशा की जा सकती है। इसलिए जब वे अपने को एक बड़े से कमरे में जमा देखती हैं और अचानक उनसे आशा की जाती है कि वे वक्ता का भाषण सुनें; तो उनकी समझ में नहीं आता कि वे अपना अथवा वक्ता का क्या करें। × × × मैं जानता हूँ कि यह चित्र कुछ अतिरञ्जित है। मुझे पता है कि हजारों बहिनें, जिनके बीच मुझे भाषण करने का अवसर मिला करता है, खूब सुसंस्कृत हैं। मैं जानता हूँ कि वे पुरुषों की स्थिति तक ऊँची उठ सकती हैं। और मैं यह भी जानता हूँ कि उन्हें बाहर निकलने का अवसर नहीं मिलता। लेकिन यह शिक्षित वर्गों के लिए कुछ तारीफ की बात नहीं है। सवाल यह है कि वे और आगे क्यों नहीं बढ़ीं? हमारी बहिनों को भी वही स्वतन्त्रता क्यों नहीं प्राप्त है जो पुरुषों को प्राप्त है? उन्हें क्यों नहीं बाहर घूमने और स्वच्छ हवा में सांस लेने दिया जाता?

पवित्रता कुछ बन्द घर के भीतर नहीं पनपती। वह ऊपर से भी लादी नहीं जा सकती। परदे की चहारदीवारी खड़ी करके उसकी रक्षा नहीं की जा सकती। उसे तो भीतर से ही पैदा होना चाहिए। और अगर उसका कुछ मूल्य है तो उसे हर प्रकार के अनिमन्त्रित प्रलोभन का तिरस्कार कर सकने में समर्थ होना चाहिए। उसे तो सीता की भाँति निडर होना चाहिए। वह पवित्रता क्या जो पुरुषों की दृष्टि के सामने ठहर न सके। पुरुषों को अगर वास्तव में पुरुष बनना है तो उन्हें स्त्रियों पर विश्वास रखना चाहिए, जिस प्रकार स्त्रियों को पुरुषों पर विश्वास रखने के

लिए मजबूर किया जाता है। हमें अपना एक अङ्ग आंशिक अथवा पूर्ण रूपेण पंगु बनाकर न रखना चाहिए। राम की सीता के बिना कल्पना नहीं की जा सकती। सीता भी उतनी ही स्वतन्त्र और स्वाधीन थीं, जितने राम। स्वतन्त्रता की दृष्टि से शायद द्रौपदी का उदाहरण अधिक अच्छा है। सीता मृदुता की मूर्ति थीं। वह एक कोमल पुष्प के समान थीं। द्रौपदी एक विशाल वट-वृक्ष थी। उसकी अदम्य इच्छा के आगे बलवान भीम तक को झुकना पड़ा। भीम औरों के लिए भयङ्कर थे, पर द्रौपदी के सामने वह भी गाय बन जाते थे। द्रौपदी को पाँचों पाण्डव में से किसी की भी रक्षा की ज़रूरत न थी। हम आज भारत के स्त्रीत्व के स्वतन्त्र विकास में बाधा डालकर स्वतन्त्रता और स्वाधीनता की कामना रखनेवाले पुरुषत्व के विकास में बाधा डाल रहे हैं। हम अपनी स्त्रियों के साथ और अछूतों के साथ जैसा व्यवहार करते हैं, उसी का हजारगुना प्रतिदान हमें मिलता है। हमारी निर्बलता, सन्दिग्धता, सङ्कीर्णता और बेबसी का यही कारण है। इसलिए, आओ, हम एक बार भारी प्रयत्न करके इस परदे को फाड़ फेंके।

यंग इण्डिया, ३ फरवरी, १९२७]

[११]

दासता की बेड़ियाँ

१. स्त्रियाँ और गहने

["सोने की ईटों को दरिया में फेंकना और स्त्रियों के गहने बनवाने में पैसा खर्चना लगभग एक ही बात है ।"]

हमारे राजा-महाराजाओं को गहनों का जो शौक है, उसे मैं कभी समझ नहीं सका। अथवा यों कहो कि गहनों से लदे राजा मुझे स्त्रियों के समान लगते हैं। राजाओं को स्त्री की उपमा देकर मैं स्त्रियों की निन्दा करना नहीं चाहता। मेरी दृष्टि में तो पुरुष के समान प्रतीत होनेवाली स्त्री की शोभा नहीं है। अपने-अपने स्थान पर ही सब कुछ शोभा देता है। अपने-अपने स्थान पर रहकर ही सब उपयोगी हो सकते हैं। अपनी जगह से ऊपर जाने की चेष्टा करना भी पदच्युत होना है, और जो नीचे जाते हैं वे तो पदच्युत कहलाते ही हैं। *श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मो भयावहः* का कुछ यही अर्थ होना चाहिए। लेकिन मैं तो राजाओं के गहनों की चर्चा करके स्त्रियों के गहनों पर कुछ कहना चाहता हूँ। राजा लोग तो 'हिंदी जीवन' पढ़ते भी नहीं होंगे। अगर पढ़ें भी तो ऐसी बातों पर वे विचार नहीं करेंगे, और अगर करना भी चाहें तो चक्रवर्ती सत्ता उन्हें विचार करने न देगी। माण्डलिक राजा साम्राज्य सरकार के तेज से तेज पाते हैं। वे स्वयं प्रकाशयुक्त नहीं हैं। सम्भव है, गहने छोड़ देने से उन्हें गद्दी से हाथ धोना पड़े। उनका कहना है—'अगर हम राजदरबार के अवसर पर गहनों से लदे हुए न जायँ तो साहब का

अपमान हो और साहब रूठ जायँ। इस वजह से हम चाहें वा न चाहें, हमें बहुमूल्य गहने खरीदने और पहनने ही पड़ते हैं।' अतएव राजाओं का सवाल छोड़ देने में कोई सार नहीं। सूर्य के ठिकाने से लगने पर ग्रह अपने आप ठिकाने लग जाते हैं। राजा ग्रहों के समान हैं। उनमें भला बुरा करने की स्वतन्त्र शक्ति आज नहीं है। चक्रवर्ती के कारागार अथवा प्रभाव से छूटने पर ही उनसे जो बात कही जायगी वह सफल हो सकेगी।

लेकिन स्त्रियों के सम्बन्ध में क्या कहेंगे? 'हिंदी नवजीवन' और 'नवजीवन' चलाने का एक खास हेतु स्त्रियों की उन्नति है। संयुक्तप्रान्त की यात्रा में क्या गरीब और क्या अमीर सभी बहिनों को गहनों से लदी देखकर मैं घबरा उठता था। × × ×

यह शौक कहाँ से और कैसे पैदा हुआ? मैं इसका इतिहास नहीं जानता। इस कारण मैंने अटकल से काम लिया है। स्त्रियाँ हाथों और पैरों में जो गहने पहनती हैं, वे उनकी दासता के चिह्न हैं। पैर के कुछ गहने तो इतने भारी होते हैं कि उन्हें पहनकर स्त्री दौड़ना तो दूर, तेजी से चल भी नहीं सकतीं। कितनी स्त्रियाँ हाथों में इतने अधिक गहने पहन लेती हैं कि उन्हें पहनकर हाथ से ठीक तरह से काम भी नहीं लिया जा सकता। इसलिए मैं ऐसे गहनों को हाथ-पैर की बेड़ियाँ समझता हूँ। नाक-कान विंधाकर जो गहने पहने जाते हैं, उनकी उपयोगिता मेरी नज़र में यही साबित हुई है कि उनके द्वारा आदमी औरत को जैसा नाच नचाता है उसे नाचना पड़ता है। एक छोटा-सा बच्चा भी अगर किसी मजबूत स्त्री की नाक या कान का गहना पकड़ ले तो वह परवश हो जाती है। इसलिए मेरी राय में ख़ास-ख़ास गहने गुलामी की निशानी ही हैं।

इन तमाम गहनों की बनावट भी मुझे भद्दी मालूम देती है। मेरी आँखें इन गहनों में कोई कला नहीं देख पातीं। हाँ, मैल के स्थल के रूप में मैंने उन्हें जाना और देखा है। हाथ, पैर, कान, नाक, और बालों में पुराने ढङ्ग के गहने पहननेवाली स्त्री उन-उन अङ्गों को साफ नहीं रख सकती। मैंने गहने पहनने के स्थानों पर मैल की परत-की-परत जमी

हुई देखी है। × × ×

आजकल की स्त्रियाँ गहनों की उत्पत्ति को भूलकर उन्हें अपना सिंगार समझती हैं और इसीलिए हलके गहने बनवाती हैं। वे ऐसे गहने बनवाती हैं जो झट उतारे और पहने जा सकें। अगर अधिक पैसा पास में हुआ तो वे सोने-चांदी के बदले हीरे-मोती के गहने बनवाती हैं। भले ही इन गहनों में मैल कम जमती हो, कुछ कला भी दीख पड़ती हो, पर इनकी उपयोगिता कुछ नहीं होती और जो शोभा कही जाती है वह काल्पनिक है। हमारे देश की स्त्रियाँ जो गहनें पहनती हैं उन्हें दूसरे देशों की स्त्रियाँ कभी नहीं पहनेंगी। उनकी शोभा की कल्पना ही दूसरी है। हर देश में कला और शोभा की अलग-अलग कल्पनाएँ होती हैं। इस-लिए हम समझ सकते हैं कि इस प्रकार के गहनों में शोभा या कला का हमारे पास कोई स्वतन्त्र अथवा सर्वमान्य प्रमाण नहीं है।

तो फिर समझदार और पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ भी गहनों का शौक क्यों करती हैं? विचार करने से मालूम पड़ता है कि और-और बातों की तरह इसमें भी रूढ़ि बलवान है। हम अपने हर एक काम के लिए कारण की तलाश नहीं करते हैं। एक बार रूढ़ि की नकल की, फिर वही हमें स्वतन्त्र रूप में रुचिकर हो जाती है। और इसे ही विचारशून्य जीवन कहते हैं। किन्तु जो स्त्रियाँ जाग्रत हैं, जो स्वयं स्वतन्त्र विचार करने लगी हैं, जो देश-सेवा कर रही हैं जो स्वराज्य के यज्ञ में हाथ बँटा रही हैं या बँटाना चाहती हैं, वे गहने आदि के बारे में अपनी विवेक-बुद्धि से क्यों नहीं काम लेतीं?

अगर गहनों की उत्पत्ति की मेरी कल्पना ठीक है तो फिर गहने चाहे जितने हलके और खूबसूरत क्यों न हों, हर हालत में त्याज्य हैं। बेड़ी चाहे सोने की हो, चाहे हीरा-मोती जड़ी हो, आखिर बेड़ी ही है। चाहे अँधेरी कोठरी में बन्द करो, चाहे राजमहल में कैद करो, दोनों ही हालत में स्त्री-पुरुष कैदी ही कहे जायँगे।

और स्त्री की शोभा किसमें है? उसके गहनों में, उसके हाव-भाव

में उसकी नित-नई पोशाक में अथवा उसके हृदय और उसके विचार में? मणिधर सर्प के मुख में हलाहल रहता है, इसलिए मणि का मुकुट धारण करते हुए भी न तो कोई उसका दर्शन करने जाता है और न कोई उसे गले ही लगाता है।

स्त्रियाँ भली-भाँति जानती हैं कि 'कला' के फेर में असंख्य पुरुषों का पतन होता है। फिर वही स्त्रियाँ गहनों का, चाहे उनमें कितनी भी कला हो, क्यों संग्रह करती हैं? यह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य नहीं है, व्यक्तिगत अधिकार की बात भी इसमें नहीं है, यह तो निरी भ्रष्टता है और इस-लिए त्याज्य है। प्रत्येक विचारशील स्त्री-पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह इस बात का विचार रखे कि उसके कामों का औरों पर कैसा असर पड़ता है। यदि किसी काम की उपयोगिता सिद्ध न होती हो, बल्कि उलटे उसका दूसरों पर बुरा असर पड़ता हो, तो वह काम उसे कभी नहीं करना चाहिए।

अन्त में मैं यह पूछूँगा कि इस कंगाल देश में, जहाँ एक आदमी की औसत आय सात, या बहुत हो तो आठ पैसे से ज्यादा नहीं है, किसे अधिकार है कि वह एक रत्ती वजन की भी अँगूठी पहने! देश की सेवा करने की कामना रखने वाली विचारशील स्त्री तो गहनों को छुएगी भी नहीं। अर्थशास्त्र की दृष्टि से देखें तो हम गहनों में जितना सोना-चाँदी लगाते हैं उससे तिहरा नुकसान होता है। एक तो यह कि जहाँ खाने की भी साँसत है वहाँ हम गहने पहन कर उस साँसत को और बढ़ाते हैं। हमें याद रखना चाहिए कि हमारी प्रति दिन की औसत आमदनी सात या आठ पैसा है। इस औसत को निकालने में उन्हें भी शामिल कर लिया गया है, जो रोजाना हजार या इससे भी अधिक कमाते हैं। इससे यदि हम अमीरों को छोड़कर अकेले गरीबों की औसत आमदनी निकालें तो वह एक या दो पैसा रोजाना पड़ेगी। इसके यह मानी हुए कि हम जितना धन गहनों में खर्च करते हैं वह मानों गरीबों के पेट से काटकर खर्च करते हैं! दूसरे, गहनों पर व्याज नहीं मिलता, जिससे देश की सम्पत्ति की वृद्धि में

हमारे कारण बाधा पड़ती है। तीसरे गहने अन्त में घिस जाते हैं और उतना धन हमेशा के लिए मिट्टी में मिल जाता है। सोने की ईंटों को दरिया में फेंकना और स्त्रियों के गहने बनवाने में पैसा खर्च करना लगभग एक ही बात है। मैं 'लगभग' कहता हूँ, क्योंकि कुछ गहने आपत्ति पड़ने पर बेचे भी जा सकते हैं। इस प्रकार उनका उपयोग हो जाता है अथवा हुआ माना जाता है। पर यह भी ज़ाहिर है कि गहने बेचने में उनके घिसने से जो नुकसान होता है वह तो खैर होता ही है, इसके अलावा बेचने वालों को गहनों की पूरी कीमत नहीं मिलती और इस प्रकार उन्हें हर तरह से नुकसान उठाना पड़ता है। इसलिए यदि स्त्रियाँ गहनों को स्त्रीधन अथवा आपद्धन के रूप में रखना चाहती है, तो उन्हें चाहिए कि नकद रुपया ही जमा करें और उनके माता-पिता अथवा ससुरालवालों को चाहिए कि उनके नाम से बैंक में खाता डलवा कर जमा-चिट्ठी उनके हाथ सौंप दें। सम्भव है, यह समय अभी दूर हो। फिर भी अगर समझदार और सेवापरायण बहिनें इस लेख को पढ़कर अपने गहने का मोह छोड़ देंगी तो मैं समझूँगा कि मेरा लिखना सफल हुआ।

—हिंदी नवजीवन, ९ जनवरी, १९३०]

---

२. स्त्रियों का सच्चा गहना

["स्त्री का सच्चा आभूषण तो उसका चरित्र है, उसकी पवित्रता है। सोना-चाँदी और हीरे-मोती कभी सच्चे गहने नहीं हो सकते। सीता और दमयन्ती के नाम हमारे लिए क्यों इतने पवित्र हो गये हैं। उनके रत्नाभूषणों के कारण नहीं, बल्कि उनके पवित्र सद्गुणों के कारण ही आज हम श्रद्धा-भक्ति के साथ उनकी याद करते हैं।"]

"स्त्री का सच्चा आभूषण तो उसका चरित्र है, उसकी पवित्रता है। सोना-चाँदी और हीरे-मोती कभी सच्चे गहने नहीं हो सकते। सीता और

दमयन्ती के नाम हमारे लिए क्यों इतने पवित्र हो गये हैं ? उनके रत्ना भूषणों के कारण नहीं, बल्कि उनके पवित्र सद्गुणों के कारण ही आज हम श्रद्धा-भक्ति के साथ उनकी याद करते हैं। आप लोगों से गहने माँगने का तो मेरे मन में और भी गहरा अभिप्राय है। अनेक बहिनों ने मुझसे कहा है कि गहनों के बोझ से छुट्टी मिल जाने से सचमुच उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ है। × × × यह आभूषण-त्याग तो कई दृष्टियों से धर्म-कार्य है। किसी स्त्री अथवा पुरुष को अपने पास धन रखने का तब-तक कोई अधिकार नहीं है जबतक वह उसमें से गरीबों और असहायों के लिए एक उचित भाग निकालकर अलग नहीं रख देता है। यह एक सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्य है। भगवद्गीता में इस कर्त्तव्य को 'यज्ञ' कहा गया है। जो इस यज्ञ को नहीं करता वह चोरी का अन्न खाता है। गीता में अनेक प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है, पर गरीब और असहाय की सेवा से बढ़कर और कौन यज्ञ हो सकता है ? ऊँच-नीच का भेद भुलाकर मनुष्यमात्र को एक समझना ही सबसे बड़ा यज्ञ है। भारत की देवियों से मैं यही कहूँगा कि शरीर को सोने-चाँदी और रत्नों से लाद लेना कोई सच्चा श्रृङ्गार नहीं है। सच्चा श्रृङ्गार तो हृदय को शुद्ध बनाने और आत्मा के सौन्दर्य को विकसित करने में है।"*

—हरिजन-सेवक, १९ जनवरी, १९३४]

* हरिजन-प्रवास में मैसूर में स्त्रियों की सभाओं में दिये भाषणों से।

[१२]

बाल-विवाह से हानियाँ

१. बाल-विवाह का अभिशाप

["बाल-विवाह की प्रथा नैतिक और शारीरिक दोनों ही दृष्टियों से हानिकारक है। यह प्रथा हमारे आचार की जड़ काटती है और हमारे बल का नाश करती है। ऐसी प्रथाओं का अनुमोदन करके हम ईश्वर से और साथ-ही-साथ स्वराज्य से दूर जाते हैं।"]

श्रीमती मारगरेट ई० कज़िन्स ने मेरे पास एक दुर्घटना का समाचार भेजा है। यह दुर्घटना हाल ही में बाल-विवाह के कारण मद्रास में हुई है। वर की अवस्था २६ बरस थी और कन्या की १३ बरस। दम्पती मुश्किल से १३ दिन साथ रहे थे कि लड़की जलकर मर गई। जूरी ने फैसला किया है कि लड़की ने पति नामधारी उस पुरुष के असहनीय और निर्दय बलात्कार के कारण आत्महत्या कर ली। लड़की के मृत्युशय्या पर दिये गये बयान से मालूम पड़ता है कि 'पति' ने उसके कपड़ों में आग लगा दी थी। कामातुर होने पर विवेक अथवा दया नहीं रहती।

यहाँ यह बात अप्रासङ्गिक है कि लड़की किस तरह मरी। परन्तु इन बातों से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता :—

१. लड़की का विवाह उस समय कर दिया गया, जब उसकी अवस्था केवल १३ बरस की थी,
२. उसमें कामेच्छा नहीं थी, क्योंकि उसने 'पति' की कामचेष्टा का विरोध किया था,
३. 'पति' ने अवश्य उसपर जबर्दस्ती की,

४. और अब वह लड़की इस संसार में नहीं है।

किसी पाशविक प्रथा को धर्म का आश्रय देना धर्म नहीं, अधर्म है। स्मृतियों में परस्पर-विरोधी वाक्य भरे पड़े हैं। इन परस्पर-विरोधी सूत्रों से यही युक्तिसंगत नतीजा निकलता है कि उन सूत्रों को, जो प्रचलित और सर्वमान्य आचार के विरुद्ध हैं, विशेष तौर से जो स्मृतियों के नैतिक उपदेशों के विरुद्ध हैं, क्षेपक समझकर अस्वीकार कर देना चाहिए। आत्म-संयम पर स्फूर्तिदायक उपदेश देनेवाली लेखनी साथ-ही-साथ पुरुष की पशुवृत्ति को उत्तेजित करनेवाले सूत्र नहीं लिख सकती है। ऋतुमती होने से पूर्व ही कन्या से विवाह न करना पाप है, यह बात वही आदमी कह सकता है जो आत्म-संयम जानता नहीं और पाप में डूबा हुआ है। असल में रजस्वला होने के बाद भी कई साल तक कन्या से विवाह करना पाप माना जाना चाहिए। कन्या के ऋतुमती होने से पहले तो उसके विवाह का विचार तक न करना चाहिए। मासिक धर्म आरम्भ होने पर कन्या सन्तति उत्पन्न करने के योग्य उसी प्रकार नहीं हो जाती, जिस प्रकार एक लड़का ओठों पर बाल आ जाने के कारण सन्तति उत्पन्न करने के योग्य नहीं हो जाता।

बाल विवाह की प्रथा नैतिक और शारीरिक दोनों ही दृष्टियों से हानिकारक है। यह प्रथा हमारे आचार की जड़ काटती है और हमारे बल का नाश करती है। ऐसी प्रथाओं का अनुमोदन करके हम ईश्वर से और साथ ही-साथ स्वराज से दूर जाते हैं। जिस आदमी को लड़की की छोटी अवस्था का विचार नहीं होगा, उसे ईश्वर का क्या विचार होगा। अधकचरे पुरुषों में एक तो स्वराज की लड़ाइयाँ लड़ने की ही योग्यता नहीं होती है और यदि उन्हें स्वराज्य मिल भी जाय तो वे उसे अपने पास नहीं रख सकते। स्वराज्य की लड़ाई का अर्थ केवल राजनीतिक जागरण ही नहीं है, बल्कि सभी प्रकार का सामाजिक, शिक्षासम्बन्धी, नैतिक, आर्थिक और राजनीतिक जागरण है।

सहवास की स्वीकृति देने की उम्र को कानून से बढ़ाने की कोशिश

की जा रही है, अल्प संख्या में कुछ लोगों को रास्ते पर लाने के लिए यह ठीक हो सकता है। पर इस कानून से एक सामाजिक कुप्रथा नहीं दूर हो सकेगी; वह तो जाग्रत लोकमत से ही दूर होगी। मैं ऐसे विषयों में कानून बनाने का विरोधी नहीं हूँ, पर अवश्य ही मैं लोकमत तैयार करने पर अधिक जोर देता हूँ। मद्रास की यह दुर्घटना असम्भव थी, यदि वहाँ बाल-विवाह के विरुद्ध जीता-जागता लोकमत होता। जिस नवयुवक का इस दुर्घटना से सम्बन्ध है वह कोई अपढ़ मजूर नहीं है, बल्कि एक बुद्धिमान पढ़ा-लिखा टाइपिस्ट है। यदि लोकमत छोटी उम्र की कन्याओं से विवाह करने या सहवास करने के विरुद्ध होता तो इसके लिए उस लड़की से विवाह करना, अथवा उसका स्पर्श करना असम्भव हो जाता। साधारणतया १८ बरस से कम उम्र की लड़की का कभी विवाह नहीं करना चाहिए।

---यंग इंडिया, २६ अगस्त १९२६]

---

२. बालपत्नियों के आँसू

'बंगाल की एक हिन्दू महिला' लिखती हैं :

"मैं नहीं जानती कि हिन्दू-समाज की बालपत्नियों के पक्ष में लिखने के लिए मैं आपको किस प्रकार धन्यवाद दूं। मद्रासवाली घटना अपने ढङ्ग की अकेली नहीं है। एक वर्ष हुआ, वैसी ही एक घटना कलकत्ते में हुई थी। उस लड़की की अवस्था केवल दस बरस की थी। अपने पति के साथ दो रात रहकर उसने पति के पास जाने से एकदम इन्कार कर दिया। लेकिन एक दिन उसकी माँ ने उसे अपने पति को पान दे आने के लिए भेजा। शायद उस बेचारी लड़की ने सोचा, मैं पान देते ही लौट आऊँगी। लेकिन उसके पति ने पान लेकर दरवाजा बन्द कर लिया और वह कमरे के बाहर न आ सकी। थोड़ी ही देर में एक हृदयविदारक चीख सुनाई दी। लड़की की माँ कमरे की ओर दौड़ी। जब दरवाजा

खोला गया तब लड़की मरी हुई पाई गई। उसके सिर पर बड़ी सख्त चोट आई थी। पति पर मुक़दमा चला और उसे फाँसी का दण्ड मिला।

"कौन नहीं जानता कि हमारे समाज में ऐसे कितने ही मामले गुप्त रूप से हुआ करते हैं! मैं स्वयं ऐसे मामले जानती हूँ जिनमें बालपत्नियों ने सयानी होने के पहले अपने पतियों से दूर रहने की चेष्टा की है। लेकिन उनका पक्ष कौन लेगा? हमारे समाज में सदा से स्त्रियाँ अपना दुःख मौन रहकर नम्रता के साथ झेलती रही हैं। किसी भी कुप्रथा के विरुद्ध युद्ध करने की शक्ति उनमें नहीं रही है। और हमारे पुरुष लोग जिनमें असीम शक्ति है, सदा अपने ही सुख की बातें सोचा करते हैं और दुखिया स्त्री के आराम का ख्याल नहीं करते।

"मेरी एक सहेली १० वर्ष की अवस्था में ब्याही गई। वह अपने पति के पास नहीं जाना चाहती थी। इसपर पति ने एक सयानी लड़की से अपना दूसरा विवाह कर लिया। वह अभागिनी बाला आज पूर्ण युवावस्था में है और अपने पिता के यहाँ रहती है। × × ×

"जहाँ पीड़ितों की कोई सुनाई न हो और उन्हें अपना कष्ट स्वयं प्रकट करने का कोई मौका न हो, वहाँ राक्षसी प्रथाओं का समर्थन करना आसान है।"

उपर्युक्त चित्र चाहे सच हो अथवा अत्युक्तिपूर्ण, बात ठीक है। मुझे इसके समर्थन में प्रमाण खोजने की जरूरत नहीं। मैं एक डाक्टर को जानता हूँ। उनकी डाक्टरी खूब चलती है। उनकी पहली स्त्री मर गई। उन्होंने एक छोटी उम्र की कन्या से शादी करली है, जो उनकी लड़की जँचती है। दोनों पति-पत्नी की भाँति रहते हैं। मैं एक दूसरा उदाहरण भी जानता हूँ। एक ६० बरस के विधुर शिक्षा-इंसपेक्टर ने एक (?) बरस की कन्या से विवाह कर लिया। सभी लोगों को उसका यह अनुचित कार्य मालूम था और वे उसे ऐसा मानते भी थे, फिर भी वह अपने पद पर बना रहा और सरकार तथा जनता उसका ऊपरी सम्मान करती रही। ऐसी और भी कई घटनाएँ अपनी तथा अपने दोस्तों की याददाश्त से बतलाई

जा सकती हैं। इस पत्र-लेखिका महिला का यह कथन ठीक है कि हिन्दुस्तान की स्त्रियों में किसी भी कुप्रथा के विरुद्ध युद्ध करने की शक्ति शेष नहीं रह गई है।

इसमें शक नहीं कि पुरुष ही मुख्यतया समाज की ऐसी स्थिति के लिए ज़िम्मेदार हैं। लेकिन क्या स्त्रियाँ सारा दोष पुरुषों के माथे मढ़कर अपनी आत्मा में बिना ग्लानि के रह सकती हैं? क्या पढ़ी-लिखी स्त्रियों का अपने समाज के प्रति तथा पुरुष समाज के प्रति, क्योंकि वे उसकी जननी हैं, यह कर्त्तव्य नहीं है कि सुधार का काम अपने ऊपर उठालें? उन्हें जो शिक्षा मिल रही है वह किस काम की यदि विवाह के उपरान्त वे अपने पतियों के हाथ की कठपुतलियाँ बन जायँ और कम उम्र में बच्चे पैदा करने में लग जायँ। वे इच्छा होने पर अपने खातिर वोटों के लिए लड़ सकती हैं। इसमें न तो बहुत समय खर्च होता है और न कुछ कष्ट ही होता है। वह उन्हें निर्दोष आनन्द का साधन प्रस्तुत करता है। लेकिन ऐसी स्त्रियाँ कहाँ हैं जो बालपत्नियों और बालविधवाओं के बीच काम करें और तबतक न तो स्वयं चैन लें और न पुरुषों को लेने दें, जबतक बालविवाह असम्भव न हो जाय और प्रत्येक बालिका में इतना साहस न आ जाय कि वह सयानी अवस्था में अपनी ही पसन्दगी के वर के साथ विवाह करने के सिवाय शेष अन्य अवस्थाओं में विवाह करने से इन्कार कर सके?,

—'हिन्दी नवजीवन' २१ अक्टूबर, १९२६

३. बाल-विवाह के समर्थन में

["हमारे बीच नैतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक बहुत-सी बुराइयाँ हैं। उन्हें दूर करने के लिए धैर्ययुक्त अध्ययन, सपरिश्रम अनुसन्धान, चातुर्यपूर्ण प्रबन्ध, सत्य कथन, स्पष्ट विचार तथा निष्पक्ष निर्णय की आवश्यकता है।"]

'यंग इंडिया' के एक पाठक लिखते हैं :--

"२६ अगस्त, १९२६ के 'यंग इंडिया' में 'बाल-विवाह का अभिशाप' शीर्षक आपके लेख में यह वाक्य पढ़कर मुझे बहुत ही दुःख हुआ 'ऋतुमती होने से पूर्व ही कन्या से विवाह न करना पाप है, यह बात वही आदमी कह सकता है जो आत्मसंयम जानता नहीं और पाप में डूबा हुआ है।"

"मैं समझ नहीं पाता कि जो लोग आप से मतभेद रखते हैं, उनके प्रति आप उदारता की दृष्टि क्यों नहीं रख सके। अवश्य ही कोई यह कह सकता है कि बालविवाह को शास्त्र-विहित ठहराने में हिन्दू शास्त्रकार ने सरासर भूल की। पर मेरी समझ में यह कहना अनुचित है कि जो लोग बालविवाह पर अड़े हैं वे 'पाप में डूबे' हैं। वाद-विवाद में यह कहना नम्रता की सीमा का उल्लंघन करना है। सच तो यह है कि बालविवाह के विरुद्ध इस प्रकार की दलील मैंने पहली बार सुनी है। जहाँ तक मै जानता हूँ न तो ईसाई पादरियों ने और न हिन्दू समाज-सुधारकों ने इस प्रकार की कोई बात कभी कही है। इसलिए आप कल्पना कर सकते हैं कि जब मैंने देखा कि यह दलील महात्मा गांधी के लेख में दी गई है, जिन्हें मैं कम से कम प्रतिद्वन्द्वी के प्रति उदारतापूर्ण व्यवहार करने में आदर्श पुरुष मानता हूँ, तो मुझे कितना दुःख हुआ।

"आपने सम्भवतः किसी एक अथवा दो नहीं, बल्कि प्रत्येक हिन्दू शास्त्रकार को दोषी ठहराया है। जहाँ तक मुझे मालूम है प्रत्येक स्मृतिकार ने बालविवाह का आदेश दिया है। आपकी तरह उन सूत्रों को,

जिनमें बालविवाह का आदेश दिया गया है, प्रक्षिप्त मानना सम्भव नहीं है। बालविवाह की प्रथा किसी एक प्रान्त में अथवा समाज में रूढ़ नहीं है। बल्कि लगभग सारे भारतवर्ष में प्रचलित है। यह प्रथा बहुत ही पुरानी है और रामायण के समय से चली आ रही है।

"मैं आपको संक्षेप में बतलाने की चेष्टा करूँगा कि किन कारणों से हिन्दू शास्त्रकारों ने लड़कियों का छोटी उम्र में विवाह करने पर जोर दिया है। उनके विचार में यह इष्ट था कि नियमतः प्रत्येक लड़की का एक पति हो। यह लड़कियों की सुख और शान्ति के लिए ही नहीं बल्कि समाज के हित के लिए भी आवश्यक है। यदि प्रत्येक लड़की के लिए एक पति का प्रबन्ध करना है तो यह आवश्यक है कि पति का चुनाव लड़कियों द्वारा न होकर उनके माता-पिता द्वारा हो। यदि चुनाव लड़कियों पर छोड़ दिया जायगा तो फल यह होगा कि बहुत-सी लड़कियाँ बिनब्याही रह जाँयगी, इसलिए नहीं कि उन्हें विवाह करना पसन्द नहीं, बल्कि इसलिए कि सभी लड़कियों को अपनी-अपनी पसन्द का वर मिल जाना बहुत कठिन है। इसके अलावा यह खतरनाक भी है, क्योंकि इससे उनमें पुरुष को आकृष्ट करने के लिए 'फ्लर्टेशन'* तथा भ्रष्टाचार की वृद्धि हो सकती है। जो युवक ऊपर से अच्छे मालूम पड़ते हैं वहाँ सम्भव है, भोली लड़कियों का सतीत्व नष्ट कर दें, और यदि वर का चुनाव माता-पिता द्वारा ही होना चाहिए तो लड़कियों का विवाह भी छोटी उम्र में हो जाना चाहिए। सयानी होने पर लड़कियाँ सम्भव है किसी से प्रेम करने लगें और माता-पिता द्वारा चुने गये वर के साथ विवाह करना पसन्द न करें। यदि लड़की का विवाह छोटी उम्र में हो कर दिया जाता है तो वह अपने पति और पति के परिवार में घुल-मिल जाती है। दोनों का मेल बहुत ही स्वाभाविक और परिपूर्ण होता है। पर सयानी लड़कियों के लिए, जिनके विचार हैं और जिनकी आदतें स्थिर

---

* फ्लर्टेशन—पुरुषों को मोहने के लिए चोंचलेबाजी या हाव-भाव दिखाना

हो चुकी होती हैं, नये-नये घर पहुँच कर अपने को उसके अनुसार बनाना कभी-कभी कठिन हो जाता है।

"बाल-विवाह पर सबसे प्रधान आपत्ति यह की जाती है कि इससे लड़की की और उसकी सन्तानों की तन्दुरुस्ती कमजोर हो जाती है। पर इस दलील पर भी निम्नलिखित कारणों से विश्वास नहीं होता। आजकल हिन्दुओं में विवाह की उम्र ऊँची होती जा रही है, लेकिन हिन्दू जाति निर्बल होती जा रही है। पचास अथवा सौ साल पहले स्त्री और पुरुष साधारणतया अब से अधिक बलवान, स्वस्थ और दीर्घजीवी होते थे। लेकिन उस समय बाल-विवाह की प्रथा अधिक प्रचलित थी। अधिक उम्र मे ब्याही जाने वाली पढ़ी-लिखी लड़कियों का स्वास्थ्य साधारणतया उन लड़कियों से अच्छा नहीं होता जिनको अपेक्षाकृत थोड़ी शिक्षा मिलती है और जिनका विवाह छोटी उम्र में कर दिया जाता है। × × ×

'आपको युरोपीय समाज और भारतीय समाज, दोनों का ही अच्छा ज्ञान है। आप अच्छी तरह बतला सकते हैं कि सब बातों को देखते हुए, क्या भारतीय स्त्रियाँ युरोपीय स्त्रियों से अधिक पतिपरायण नहीं होतीं? क्या गरीबों में भारतीय पति अपनी पत्नी के साथ युरोपीय पतियों की अपेक्षा अधिक उदार व्यवहार नहीं करते? क्या युरोपवालों की अपेक्षा हिन्दुस्तानियों में क्लेशजनक विवाह कम नहीं होते? क्या भारतीय समाज में युरोपीय समाज की अपेक्षा सदाचार अधिक नहीं है? यदि इन सब पहलुओं से युरोपीय विवाहों की अपेक्षा भारतीय विवाह अधिक सफल हैं तो बाल-विवाह को जो भारतीय विवाह की एक विशेषता है दूषित नहीं ठहराना चाहिए।

"मैं यह नहीं मान सकता कि लड़कियों का छोटी उम्र में विवाह करने की आज्ञा देते समय हिन्दू शास्त्रकार समाज के कल्याण के अतिरिक्त (जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों का कल्याण सम्मिलित है) और किसी भावना से प्रेरित हुए थे। मेरा विश्वास है कि लड़कियों का छोटी

उम्र में ब्याह हिन्दू समाज की एक विशेषता है और इसी कारण हिन्दू समाज ने अपनी पवित्रता कायम रखी है और विरोधी वातावरण होते हुए भी अपने को छिन्न-भिन्न होने से बचाये रखा है। आप चाहे इन सब बातों में विश्वास न करें, पर क्या हम यह आशा नहीं कर सकते कि आप अपना यह विचार त्याग देंगे कि सभी महान हिन्दू शास्त्रकार जिन्होंने लड़कियों का छोटी उम्र में विवाह करने पर जोर दिया है आत्मसंयम जानते नहीं थे और पाप में डूबे थे?'

"मद्रास की जिस घटना की खबर आपने दी है वह बड़ी विचित्र मालूम पड़ती है। जूरी का मत था कि लड़की ने आत्मघात किया; लेकिन लड़की का बयान था कि पति ने उसके कपड़ों में आग लगा दी। इन परस्पर-विरुद्ध बातों को देखते हुए यह मानना बहुत ही कठिन है कि जिन बातों को आप निर्विवाद सत्य मानते हैं वे बातें सचमुच निर्विवाद सत्य हैं। १३ बरस से कम अवस्था की लड़कियों के विवाह के लाखों उदाहरण मिलते हैं। लेकिन अभी तक एक भी ऐसा उदाहरण इससे पहले सुनने में नहीं आया है कि पति की क्रूर काम-चेष्टा के कारण लड़की ने आत्मघात कर लिया। शायद मद्रास की घटना में कुछ विशेष कारण थे और बाल-विवाह उस लड़की की मृत्यु का मुख्य कारण नहीं था।"

कविवर * ने ठीक ही लिखा है : 'जो बातें गुप्त रीति से आत्मा को चोट पहुँचाती हैं उनकी रूक्षता कम करने के लिए एक उपयुक्त दर्शन गढ़ लेना बहुत आसान है।'

'यंग इंडिया' के यह 'पाठक' तो एक कदम और आगे बढ़ गये हैं। उन्होंने केवल एक उपयुक्त दर्शन ही नहीं गढ़ लिया है, बल्कि तथ्यों को एकदम भुला दिया है और अप्रमाणित वक्तव्यों के आधार पर अपना तर्क खड़ा कर लिया है।

* यहाँ कविवर से आशय रवीन्द्रनाथ (अब स्वर्गीय) से है। —सम्पादक

अनौदार्य के अभियोग पर मैं कुछ नहीं कहूँगा, क्योंकि मैंने शास्त्रकारों पर दोषारोप नहीं किया है, बल्कि उन लोगों पर बुराई थोपी है जो मातृत्व का भार सम्हाल सकने में असमर्थ, छोटी अवस्था की लड़की का ब्याह करने पर जोर देते हैं। अनौदार्य का प्रश्न तो तब उठता है जब किसी काल्पनिक व्यक्ति पर नहीं, बल्कि किसी जीवित व्यक्ति पर भी और वह भी बिना किसी कारण, अपवित्र भावना का दोषारोप किया जाता है। मैं पूछता हूँ कि क्या इस पत्र-लेखक के पास कोई प्रमाण है जिसके बल पर वह कह सकता है कि जिन स्मृतिकारों ने आत्मसंयम का उपदेश दिया है, उन्होंने ही छोटी उम्र की लड़कियों का ब्याह करने का आदेश देनेवाले सूत्र भी लिखे हैं। क्या यह मानना अधिक उदार न होगा कि ऋषियों के मन में अपवित्र भावनाएँ नहीं हो सकतीं अथवा वे शारीरिक विकास के मुख्य नियमों से अनभिज्ञ नहीं हो सकते ?

लेकिन यदि कम अवस्था के बजाय (क्योंकि कम अवस्था में विवाह के मानी २५ बरस से कम अवस्था में विवाह भी हो सकता है) बाल्य अवस्था में विवाह की आज्ञा देनेवाले सूत्र प्रामाणिक भी मान लिये जायँ तो हमें चाहिए कि प्रत्यक्ष अनुभव और वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर उन सूत्रों को अस्वीकार कर दें। मुझे पत्र-लेखक के इस वक्तव्य की सचाई में सन्देह है कि हिन्दू समाज में बालविवाह सर्वत्र प्रचलित है। मुझे यह देखकर अवश्य ही दुःख होगा कि 'लाखों लड़कियों' का विवाह होता है, अर्थात् वे बालिकाएँ होती हुई भी पत्नियों की तरह रहती हैं। यदि ११ बरस की अवस्था में ही लाखों लड़कियों को विवाह होने के बाद पति का सहवास करना पड़ता तो हिन्दू जाति आज से बहुत पहले नष्ट हो गई होती।

और यह बात भी तर्कसंगत नहीं है कि यदि माता-पिताओं को ही अपनी लड़कियों के लिए वर का चुनाव करना है तो उनका विवाह तथा पति सहवास छोटी उम्र में ही हो जाना चाहिए। यह कहना भी सच नहीं है कि यदि लड़कियों को वर का चुनाव करने दिया गया तो वे

कोर्टशिप* और फ्लर्टेशन करने लगेंगी। युरोप तक में कोर्टशिप* सर्वत्र प्रचलित नहीं है। हजारों हिन्दू लड़कियों का १५ बरस से अधिक उम्र में व्याह होता है और फिर भी उनके वरों का चुनाव उनके माता-पिता करते हैं। मुसलमान माता-पिता तो हमेशा ही अपनी सयानी लड़कियों के खाविन्द खुद ही पसन्द करते हैं। यह सवाल ही दूसरा है कि वर का चुनाव स्वयं लड़की करे अथवा उसके माता-पिता करें और यह बात बहुत कुछ रीति-रिवाज पर अवलम्बित है।

पत्र-लेखक ने इस बात के समर्थन में कोई सबूत पेश नहीं किया है कि सयानी उम्र में ब्याही गई कन्याओं की सन्तानें बाल्यावस्था में व्याही गई लड़कियों से कमज़ोर होती हैं। भारतीय और युरोपीय दोनों ही समाजों का, अवश्य ही, मुझे अनुभव है। फिर भी मैं दोनों समाजों के आचार की तुलना में पड़ना नहीं चाहता। बहस के लिए यदि यह बात ज़रा देर के लिए मान ली जाय कि हिन्दू समाज की अपेक्षा युरोपीय समाज आचार-भ्रष्ट है तो क्या उससे यही अनुमान करना स्वाभाविक है कि उसकी आचार-भ्रष्टता का कारण परिपक्व अवस्था में व्याह होना है?

अन्त में, मद्रासवाली घटना पत्र-लेखक के तर्कों को पुष्ट नहीं करती है, लेकिन उन्होंने घटना का जिस प्रकार से उपयोग किया है, उससे प्रकट होता है कि किस प्रकार तथ्यों की अवहेलना करके बिना अच्छी तरह समझे-बूझे वह अपने नतीजे पर पहुँचे हैं। यदि वह एक बार मेरे उस लेख को दुबारा पढ़ेंगे तो उन्हें पता चलेगा कि मैंने अपना नतीजा प्रमाणित तथ्यों के आधार पर ही निकाला है। मैंने जो नतीजा निकाला है, उसका मृत्यु के कारणों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सिद्ध है कि (१) लड़की छोटी उम्र की थी, (२) उसे कामेच्छा नहीं थी, (३) 'पति' ने उसपर जबर्दस्ती की और (४) वह अब इस संसार में नहीं है। लड़की

* कोर्टशिप = विवाह के अर्थ कौमार्य अवस्था में चलनेवाला प्रेम-व्यापार।

ने यदि आत्मघात किया तो बुरा किया, लेकिन यदि 'पति' ने उसे इसलिए मार डाला कि उसने उसकी पाशविक कामवृत्ति के सामने सिर नहीं झुकाया तो यह और भी बुरा था। लड़की की उम्र तो अभी सीखने और खेलने की थी, पत्नी के रूप में जीवन बिताने तथा अपने नन्हें कन्धों पर घर-गृहस्थी की चिन्ताओं का बोझ उठाने अथवा स्वामी की गुलामी करने की उम्र अभी उसकी नहीं थी।

इस पत्र के लेखक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनका समाज में प्रतिष्ठित स्थान है। भारतमाता अपने उन लड़के और लड़कियों से अधिक अच्छी बातों की आशा करती है, जिन्होंने उदार शिक्षा पाई है और जिनसे राष्ट्र के लिए सोचने और काम करने की आशा की जाती है। हमारे बीच नैतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक बहुत-सी बुराइयाँ हैं। उन्हें दूर करने के लिए धैर्ययुक्त अध्ययन, सपरिश्रम अनुसन्धान, चातुर्यपूर्ण प्रबन्ध, सत्य कथन, स्पष्ट विचार तथा निष्पक्ष निर्णय की आवश्यकता है। आवश्यकता होने पर हम ज़मीन आसमान का मतभेद रख सकते हैं। लेकिन यदि हम सच्चाई को खोज निकालने और फिर उस पर हर हालत में डटे रहने की कोशिश नहीं करेंगे तो अपने देश, अपने धर्म और अपने राष्ट्रीय हित को हानि पहुँचायेंगे।

—हिंदी नवजीवन, ६ सितम्बर, १६२६]

---

४. बाल-विवाह की भीषणता

["बालविवाह की बुराई जितनी अधिक गाँवों में फैली हुई है उतनी ही अधिक शहरों में भी। यह काम तो खास तौर पर स्त्रियों का है। पुरुषों को भी निस्सन्देह अपने हिस्से का काम करना है। लेकिन पुरुष जब पशु बन जाता है तब उससे समझदारी की बातें सुनने की आशा नहीं रहती।"]

बाल-विवाह-निषेधक समिति ने बाल-विवाह पर एक उपयोगी और शिक्षाप्रद विवरण-पत्रिका प्रकाशित की है। मैं इसके मुख्य-मुख्य अंश नीचे देता हूँ :

"भारत की सन् १९३१ की सेंससरिपोर्ट में १५ वर्ष से कम उम्र में ब्याही गई लड़कियों की संख्या के सम्बन्ध में निम्न आँकड़े दिये गये हैं :

अवस्था	प्रतिशत ब्याही हुई लड़कियाँ
० से १	.०८
१ ,, २	१.२
२ ,, ३	२.०
३ ,, ४	४.२
४ ,, ५	६.६
५ ,, १०	१९.३
१० ,, १५	३८.१

"इस तरह लगभग एक वर्ष से कम अवस्थावाली सौ लड़कियों में एक विवाहिता है और १५ वर्ष से कम उम्र की हर अवस्थावाली लड़कियों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की भयंकरता देखने में आती है।

"इसका एक नतीजा यह हुआ है कि हमारे देश में बालविधवाओं की संख्या इतनी अधिक है कि उस पर विश्वास नहीं होता। इसके आँकड़े निम्न प्रकार हैं :

उम्र	विधवाओं की संख्या
० से १	१,५१५
१ ,, २	१,७८५
२ ,, ३	२,४८५
३ ,, ४	९,०७६
४ ,, ५	१५,०१९
५ ,, १०	१५,४८२
१० ,, १५	१८५,३३९

"अक्सर यह कहा जाता है कि हमारे देश में बालविवाह से अपेक्षाकृत बहुत थोड़ी हानि होती है और यह प्रथा सब जगह प्रचलित नहीं है। पर यदि बालविधवाओं की सच्ची संख्या उपर्युक्त आँकड़ों के सौवें भाग जितनी भी हो तब भी कोई मानवतापूर्ण समाज या सरकार इस कुप्रथा को रोकने में एक क्षण का भी विलम्ब नहीं करेगी। इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना चाहिए कि इनमें से अधिकांश बालिकाओं के लिए पुनर्विवाह असम्भव है।

"बाल-विवाह का दूसरा दुष्परिणाम यह है कि बहुत-सी नवयुवती जच्चाएँ मर जाती हैं। हिन्दुस्तान में हरसाल सोहर में औसतन २,००,००० ज़च्चाएँ मरती हैं, अर्थात् हर घण्टे में २० मर जाती हैं और इनमें से बहुत सी १३ से लेकर १९ वर्ष की अवस्थावाली होती हैं। सर जान मेगाव के अनुसार, 'प्रति १,००० नवयुवती माताओं में १०० तो सोहर में अवश्य ही मरती हैं।' हमारे पास जच्चाओं की मृत्यु के ठीक-ठीक आँकड़े नहीं हैं। अनुमान किया जाता है कि भारत में प्रति हजार में यह संख्या २४.५ है, जब कि इंगलैंड में ४.५ है।

"अन्त में बालविवाह से माता की ही नहीं, बल्कि शिशु की, अतः समस्त जाति की, हानि होती है। हिन्दुस्तान में प्रति १,००० नवजात शिशुओं में १८१ मर जाते हैं। यह तो औसत है; पर हिन्दुस्तान में ऐसे भी स्थान हैं, जहाँ यह औसत प्रति हजार ४०० तक पहुँच जाती है जब × × × इंग्लैंड और जापान में शिशु-मृत्यु-संख्या प्रति हजार में क्रमशः ६० और १२४ है। × × ×

"सबसे अधिक दुःख की बात यह है कि इन विषयों में यदि कुछ प्रगति हो भी रही है तो वह बहुत ही मन्द है। उदाहरणार्थ, १९२१ में एक साल से कम उम्र की पत्नियों की संख्या ९,०६६ थी, १९३१ में यह संख्या बढ़कर ४४,०८२ हो गई, अर्थात् पहले की संख्या से पँचगुनी बढ़ गई, जब कि जन-संख्या सिर्फ $\frac{1}{10}$ ही बढ़ी थी। पुनश्च, १९२१ में एक साल से कम उम्र की ७५९ विधवाएँ थीं, १९३१ में यह संख्या

१,५१५ तक पहुँच गई थी। जन-संख्या के विविध आँकड़े बहुत ही मन्द प्रगति सूचित करते हैं। इन बुराइयों को रोकने के लिए जो उपाय किये जाते हैं उनके प्रमाण में जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ रही है। इसलिए इन बुराइयों को दूर करने के लिए सक्रिय उपाय हाथ में लेने की आवश्यकता पहले से अधिक तीव्र है। और भारत के नारी-आन्दोलन के पास इस सम्बन्ध में जनसाधारण तथा सरकार की आत्मा को सचेत करने की अपेक्षा अधिक ऊँचा और अधिक आवश्यक काम दूसरा हो नहीं सकता।"

इन आँकड़ों को देखकर हम सबको अपना सिर शरम से नीचे झुका लेना चाहिए। पर यह इस कुप्रथा को दूर करने का उपाय नहीं है। बालविवाह की बुराई जितनी अधिक गाँवों में फैली हुई है, उतनी ही अधिक शहरों में भी। यह काम तो खास तौर पर स्त्रियों का है। पुरुषों को भी निस्सन्देह अपने हिस्से का काम करना है। लेकिन पुरुष जब पशु बन जाता है तब उससे समझदारी की बातें सुनने की आशा नहीं रहती। इसलिए माताओं को ही अपने अधिकारों को समझने तथा इन्कार कर देने के कर्त्तव्य की शिक्षा दी जानी चाहिए। यह शिक्षा उन्हें स्त्रियों के सिवा और कौन दे सकता है? इसलिए मैं सलाह दूँगा कि अखिल भारतीय महिला परिषद् को अपना नाम सार्थक करने के लिए शहरों से हटकर गाँवों के कार्य-क्षेत्र में उतर आना चाहिए। ये विवरण-पत्रिकाएँ बहुमूल्य हैं। पर वे तो थोड़ी-सी शहरों में रहने वाली अंग्रेजी पढ़ी-लिखी बहिनों तक ही पहुँचेगी। आवश्यकता इस बात की है कि गाँवों की स्त्रियों से व्यक्तिगत सम्पर्क हो। यह सम्पर्क, यदि कभी, स्थापित भी हो गया तो काम सरल नहीं हो जायगा। पर, किसी-न-किसी दिन तो इस दिशा में शुरूआत करनी ही पड़ेगी। उसके बाद ही किसी फल की आशा की जा सकती है। अखिल भारतीय महिला परिषद् क्या अखिल भारतीय ग्राम उद्योग संघ के साथ काम करेगी? किसी भी ग्राम-सेवक या ग्रामसेविका को, चाहे वे कितने ही योग्य क्यों न हों, मात्र

समाज-सुधार के लिए गाँव के लोगों के पास जाने का विचार नहीं करना चाहिए। उन्हें तो ग्राम-जीवन के सभी अङ्गों के सम्पर्क में आना पड़ेगा। मैंने अनेक बार कहा है और फिर कहूँगा ग्रामसेवा सच्ची जन-शिक्षा है। शिक्षा का अर्थ केवल अक्षर-ज्ञान ही नहीं है, सच्ची शिक्षा यह है कि गाँववालों को सिखाया जाय कि मनुष्य, जिसे विचारवान प्राणी कहा जाता है किस प्रकार अपना गौरव रखकर वास्तविक जीवन व्यतीत कर सकता है।

—हरिजन, १६ नवम्बर, १९३५]

---

५. राक्षसी विवाह

["अगर पिता अपनी छोटी लड़की का व्याह करना अथवा उसे बेचना चाहता है तो उस हालत में घर के सब लड़के-लड़कियों को अथवा किसी एक को ही, जिसमें शक्ति हो, पिता के घर का त्याग कर देना चाहिए और उसकी तरफ से कुछ भी मदद नहीं लेनी चाहिए।"]

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी लिखते हैं :—

"बड़ी लज्जा के साथ मैं आपका ध्यान 'माथुर हितैषी' के ३० दिसम्बर के अङ्क में प्रकाशित 'मथुरा में बालविवाहों की भरमार' शीर्षक लेख की ओर आकर्षित करता हूँ। २ वर्ष और २॥ वर्ष और ३ वर्ष की कन्याओं के विवाह करने का दुर्भाग्य हमारी जाति को ही प्राप्त है। काफी आन्दोलन किया गया। हमारी जाति के प्रतिष्ठित नेता श्री राधेलाल चतुर्वेदी ने बहुत प्रयत्न किया, पर ये बालविवाह नहीं रोके जा सके। पिछले वर्ष तो ८ महीने और सवा साल की लड़कियों की शादी की गई थी। समझ में नहीं आता कि इन लोगों का क्या इलाज किया जाय। यह बात ध्यान देने योग्य है कि हम लोग, यानी चतुर्वेदी समाज, अपने

को सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण समझते हैं। और दूसरे ब्राह्मणों तक के हाथ की रोटी खाने में पाप मानते हैं।"

बनारसीदासजी ने जिन विवाहों का वर्णन किया है, उन्हें राक्षसी विवाह न कहें तो क्या कहें? दुःख की बात तो यह है कि ऐसे विवाहों में भाग लेने वाले लोग प्रतिष्ठित होते हैं। इससे उन्हें रोकने में बहुत कठिनाइयाँ पैदा होती हैं और इसके साथ जब धर्म को मिलाया जाता है तब कठिनाइयों की मात्रा और भी बढ़ जाती है। कैसे भी हो, सब उपद्रवों के लिए सत्याग्रह एक सम्पूर्ण उपाय हो सकता है। यह दूसरी बात है, कि हमेशा हर हालत में सत्याग्रह का प्रयोग करने की हममें शक्ति नहीं रहती अथवा प्रयोग करने का तरीका हमको मालूम नहीं होता। इससे सत्याग्रह की नहीं, बल्कि सत्याग्रही की मर्यादा सिद्ध होती है। एक प्रयोग उपर्युक्त परिस्थिति में प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। जिस घर में ऐसे विवाह का आदर किया जाय, उसका त्याग करना चाहिए और उसकी तरफ से किसी प्रकार की मदद नहीं लेनी चाहिए। उदाहरण के लिए अगर पिता अपनी छोटी लड़की का ब्याह करना चाहता अथवा उसे बेचना चाहता है तो उस हालत में उस घर के सब लड़के-लड़कियों को अथवा किसी एक को ही, जिसमें शक्ति हो, पिता के घर का त्याग कर देना चाहिए और उसकी तरफ से कुछ भी मदद नहीं लेनी चाहिए। असर न भी हुआ तो भी जिन्होंने त्याग किया है वे इस पाप से बच जायँगे। साथ ही उन्हें श्रद्धा रखनी चाहिए कि ऐसे त्याग का अन्तिम परिणाम शुभ ही हो सकता है। मैंने तो दृष्टान्त रूप से ऐसे मौके पर सत्याग्रह का यह एक ही प्रयोग बतलाया है। परिस्थिति को देखकर प्रत्येक सत्याग्रही और भी प्रयोगों की तलाश कर सकता है।

—हिंदी नवजीवन, ३० जनवरी, १९३०]

---

६. नवयुवकों को परामर्श

["मैं उस लड़की को विधवा ही नहीं मानता जो १०-१५ साल की उम्र में बिना पूछे व्याह दी गई, जो अपने नामधारी पति के साथ कभी रही भी नहीं और एक दिन अचानक विधवा क़रार दे दी गई। यह शब्द का और भाषा का दुरुपयोग है और भारी पाप है।"]

एक प्रतिष्ठित तमिल मित्र ने मुझे बाल-विधवाओं पर कुछ कहने को लिखा है। उन्होंने लिखा है कि हिन्दुस्तान के और हिस्सों की बनिस्बत इस प्रान्त की बाल-विधवाओं को बहुत अधिक कष्ट है। मैं अबतक इस कथन की सचाई की जाँच नहीं कर सका हूँ। आपको इस सम्बन्ध में मुझसे अधिक जानकारी होनी चाहिए। लेकिन आप नवजवानों से, जो मुझे चारों ओर से घेरे खड़े हैं, मैं कहना चाहता हूँ कि आप कुछ वीरता दिखायँ। अगर आप में वीरता है तो मैं एक प्रस्ताव करूँगा। मुझे आशा है तुममें से अधिकांश अविवाहित हैं और बहुत से ब्रह्मचारी भी हैं। मैं 'बहुत-से' इसलिए कह रहा हूँ, क्योंकि मैं विद्यार्थियों को अच्छी तरह जानता हूँ। जो विद्यार्थी अपनी बहिन पर विषय-वासना से भरी नजर डालता है वह ब्रह्मचारी नहीं है। मैं चाहता हूँ कि तुम यह पवित्र प्रतिज्ञा कर लो कि तुम बाल-विधवा से ही विवाह करोगे और अगर कोई बाल-विधवा नहीं मिली तो तुम विवाह ही नहीं करोगे। निश्चय करलो और उसकी घोषणा सारे संसार के सामने कर दो। अगर तुम्हारे माता-पिता हों तो उनके सामने कर दो, नहीं तो अपनी बहिनों के सामने कर दो। मैं उन्हें विधवा हिचकिचाहट के साथ कहता हूँ, क्योंकि मैं उस लड़की को विधवा ही नहीं मानता जो १०, १५ साल की उम्र में बिना पूछे ताछे व्याह दी गई, जो अपने नामधारी पति के साथ कभी रही भी नहीं, और एक दिन अचानक विधवा करार दे दी गई। यह शब्द का और भाषा का दुरुपयोग है, और भारी पाप है। हिन्दूधर्म में 'विधवा' शब्द के चारों ओर एक पवित्रता विराजती है। मैं स्व० श्रीमती रमाबाई रानडे-जैसी सच्ची विधवाओं की पूजा करता हूँ,

जो जानती थीं कि विधवा होने के क्या मानी हैं। मगर ९ साल की बाला जानती भी नहीं कि पति क्या होता है। मुझे चाहे वहमी कह लीजिए पर मेरा विश्वास है कि एक राष्ट्र को अपने सारे पापों का फल भुगतना पड़ता है। मेरा विश्वास है कि हमारे सभी पापों ने इकट्ठा होकर हमें दासता के बन्धन में जकड़ दिया है। × × × आपके ख्याल में क्या हम तबतक अपने को पुरुष कह सकते हैं और अपने तथा दूसरे के ऊपर शासन करने अथवा ३० करोड़ अधिवासियों के एक राष्ट्र के भाग्यविधाता बनने के लायक हो सकते हैं जबतक एक भी विधवा ऐसी है जो अपनी मौलिक आवश्यकताएँ पूरी करना चाहती है पर समाज उसे ऐसा करने से रोकता है। यह धर्म नहीं है, बल्कि अधर्म है। हिन्दू धर्म मेरी नस-नस में घुसा हुआ होने पर भी मैं ऐसा कहता हूँ। यह मत सोचो कि पश्चिमी भावना मेरे मुँह से यह सब कहलवा रही है। मेरा दावा है कि मेरे अन्दर भारतवर्ष की निर्मल भावना का स्रोत बह रहा है। मैंने पश्चिम से बहुत-सी अच्छी बातें ली हैं,पर यह बात नहीं। हिन्दूधर्म में इसी प्रकार के वैधव्य का कोई स्थान नहीं है।

बाल-विधवाओं के सम्बन्ध में मैंने जो कुछ कहा है वह बाल पत्नियों पर भी लागू होता है। तुम अपनी कामेच्छा पर इतना अङ्कुश तो अवश्य धर लो कि १६ वर्ष से कम अवस्था की किसी लड़की से विवाह नहीं करोगे। यदि मेरी चलती तो कम-से-कम उम्र की सीमा २० साल रखता।

हिन्दुस्तान में भी २० साल की उम्र कम कही जायगी। लड़कियों की अकाल-प्रौढ़ता के लिए हिन्दुस्तान की आबहवा नहीं, बल्कि हम जिम्मेदार हैं, क्योंकि मैं बीस-बीस साल की ऐसी लड़कियों को जानता हूँ जो पवित्र और विकारहीन हैं और किसी भी तूफान का सामना कर सकती हैं। हमें चाहिए कि कम-से-कम हम तो अकाल-प्रौढ़ता अपने ऊपर न लादें! कुछ ब्राह्मण विद्यार्थियों ने मुझसे कहा है कि हम इस सिद्धान्त का पालन नहीं कर सकते, क्योंकि हमें १६ बरस की ब्राह्मण

लड़कियाँ मिलेंगी ही नहीं। बहुत थोड़े ब्राह्मण अपनी कन्याओं को इतनी अवस्था तक अविवाहित रखते हैं, अधिकतर ब्राह्मण कन्याएँ १०, १२ अथवा १३ वर्ष की अवस्था में व्याह दी जाती हैं। इस पर मैं ब्राह्मण युवकों से कहूँगा : अगर तुम अपने ऊपर संयम नहीं रख सकते तो ब्राह्मण कहलाना छोड़ दो। १६ बरस की किसी ऐसी सयानी लड़की से व्याह करलो, जो बाल्यावस्था में ही विधवा हो गई हो। यदि तुम्हें विधवा ब्राह्मणी भी न मिले तो फिर तुम चाहे जिस लड़की से विवाह कर लो। मैं तुमसे कहता हूँ कि हिन्दुओं का ईश्वर उस युवक को क्षमा ही करेगा जो एक १२ बरस की लड़की पर बलात्कार करने के बजाय अपनी जाति से बाहर विवाह करता है। यदि आपका हृदय पवित्र नहीं है, आप अपनी वासनाओं पर काबू नहीं रख सकते, तो आप शिक्षित कहलाने का हक खो बैठते हैं। मैं ब्राह्मणधर्म की पूजा करता हूँ। मैंने वर्णाश्रम धर्म का समर्थन किया है। पर उस ब्राह्मणत्व से मैं दूर भागता हूँ जो अस्पृश्यता को, कुँवारे वैधव्य को तथा कुमारियों के विनाश को सहन करता है। यह तो ब्राह्मणत्व का मजाक है। इसमें ब्रह्म का कोई ज्ञान सूचित नहीं होता। यह तो निरी पशुता है। ब्राह्मणत्व इससे बड़ी चीज है। मैं चाहता हूँ मेरी ये बातें आपके दिल में धँस जायँ।

पचयप्पा कालेज, मद्रास के एक भाषण से।

—हिन्दी नवजीवन, २२ सितम्बर, १९२७]

---

७. रोषभरा विरोध

["विधवाओं को ब्रह्मचर्य-पालन से मोक्ष मिलता है, इस कथन के अनुभव में तो कोई प्रमाण नहीं मिलता। मोक्ष प्राप्त करने के लिए खाली ब्रह्मचर्य की ही नहीं, वरं अन्य बातों की भी आवश्यकता पड़ती है।"]

एक बङ्गाली स्कूल के हेडमास्टर लिखते हैं :—

"आपने मद्रास के विद्यार्थियों को केवल विधवा लड़कियों से ही विवाह करने का जो परामर्श दिया है, उससे हम बहुत भयभीत हो रहे हैं और मैं उससे अपना विनम्र परन्तु रोषभरा विरोध प्रगट करता हूँ।

"विधवाओं के आजन्म-ब्रह्मचर्य पालन से ही भारत की स्त्रियों को संसार में सब से बड़ा और ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ है। आपकी सलाह विधवाओं की इस आजन्म ब्रह्मचर्यपालन की प्रवृत्ति का नाश करेगी और उन्हें भौतिक सुखों के मार्ग पर डालकर, एक ही जन्म में ब्रह्मचर्य-पालन द्वारा उनके मोक्ष प्राप्त करने की सम्भावना मिटा देगी। इस प्रकार विधवाओं के प्रति ऐसी तीव्र सहानुभूति दिखाना उनकी अ-सेवा ही होगी और कुमारी कन्याओं के प्रति, जिनके विवाह का प्रश्न बड़ा जटिल और कठिन हो गया है, अन्याय होगा। विवाह-सम्बन्धी आपके इन विचारों से हिन्दुओं के आवागमन, पुनर्जन्म और मुक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त धूल में मिल जायँगे और हिन्दू समाज भी अन्य समाजों के तल पर आ जायगा, जिसे हम पसन्द नहीं करते। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे समाज का नैतिक पतन हुआ है, परन्तु हमें हिन्दू आदर्शों का सदा ध्यान रखना चाहिए और जहाँ तक बने उन आदर्शों का पालन करना चाहिए तथा अन्य समाजों और अन्य आदर्शों के उदाहरण से प्रभावित नहीं होना चाहिए। अहल्याबाई, रानी भवानी, बहुला, सीता, सावित्री और दमयन्ती के उदाहरण हिन्दू समाज का पथ-प्रदर्शन करते रहेंगे और हमें चाहिए कि हिन्दू समाज को उसी मार्ग पर चलावें इसलिए मैं आपसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि आप ऐसे जटिल प्रश्नों पर अपनी राय मत दिया करें और समाज को जो वह उत्तम समझे वही करने दें।"

इस रोषभरे विरोध से न तो मेरे विचार बदले हैं और न मुझे कोई पश्चात्ताप हुआ। मेरी सलाह ऐसी किसी भी विधवा को अपने पथ से

विमुख नहीं करेगी, जिसमें बलवती इच्छा है और जो ब्रह्मचर्य का अर्थ समझती हुई उसका पालन करने पर कटिबद्ध है। यदि मेरी सलाह पर चला जायगा तो अवश्य ही उन छोटी उम्र की लड़कियों को सहायता मिलेगी जो विवाह के समय यहाँ तक नहीं जानती थीं कि विवाह किसे कहते हैं। उनके सम्बन्ध में 'विधवा' शब्द का उपयोग इस पवित्र नाम का दुरुपयोग है। इस पत्र के लेखक का जो उद्देश्य है उसी की पूर्ति के लिए मैं देश के नवजवानों को सलाह देता हूँ कि वे या तो इन कथित विधवाओं से विवाह करें या फिर विवाह ही न करें। विवाह संस्था की पवित्रता की रक्षा तभी हो सकेगी जब वह बालवैधव्य के अभिशाप से मुक्त हो जायगी।

विधवाओं को ब्रह्मचर्य-पालन से मोक्ष मिलता है, इस कथन का तो अनुभव में कोई प्रमाण नहीं मिलता। मोक्ष प्राप्त करने के लिए खाली ब्रह्मचर्य की नहीं, वरं अन्य बातों की भी आवश्यकता पड़ती है। जो ब्रह्मचर्य जबर्दस्ती ऊपर से लाद दिया जाता है उसका कोई भी मूल्य नहीं है। ऐसे ब्रह्मचर्य से तो बहुधा गुप्त पाप होते हैं, जिससे समाज की नैतिक शक्ति का ह्रास होता है। पत्र-लेखक को मालूम होना चाहिए कि यह सब मैं निजी अनुभव के आधार पर लिख रहा हूँ।

मुझे अवश्य ही खुशी होगी, यदि मेरी सलाह के फलस्वरूप इन कुमारी विधवाओं के साथ न्याय हो सकेगा और इसके कारण अन्य कुमारी कन्याओं को, अपरिपक्व अवस्था में पुरुष की विषयलालसा के लिए बेचने के बदले, वय और बुद्धि में परिपक्व होने तक प्रतीक्षा करने का अवसर दिया जायगा।

मेरे विवाह-सम्बन्धी विचार आवागमन, पुनर्जन्म तथा मुक्ति-सम्बन्धी विचारों से असङ्गत नहीं हैं। पाठकों को यह मालूम होना चाहिए कि कि करोड़ों हिन्दुओं में, जो दम्भवश नीच जाति के कहे जाते हैं, विधवा-विवाह पर कोई रोक नहीं है। मेरी समझ में नहीं आता कि यदि बूढ़े विधुरों के पुनर्विवाह से उक्त विश्वास में बाधा नहीं पड़ती तो उन

लड़कियों के सच्चे व्याह से, जिन्हें गलत रीति से विधवा कहा जाता है, उस विश्वास में कैसे बाधा पहुँचेगी। पत्र-लेखक की ज्ञान-प्राप्ति के लिए मैं बतला देना चाहता हूँ कि आवागमन और पुनर्जन्म का सिद्धान्त मेरे निकट कोरा सिद्धान्त नहीं हैं, बल्कि वैसा ही सत्य है जैसे प्रातःकाल सूर्य का उदय होना। मुक्ति मेरे निकट एक ऐसा सत्य है जिसे प्राप्त करने के लिए मैं अपनी सारी शक्ति से चेष्टा कर रहा हूँ। और इसी मुक्ति के सम्बन्ध में विचार करने से मुझे भान हुआ है कि कुमारी विधवाओं के प्रति कितना अत्याचार हो रहा है। कम से कम हमें इतना तो चाहिए ही कि अपनी नपुंसकता में इन अत्याचार-पीड़िता कुमारी विधवाओं के नाम के साथ एक साँस में सीता तथा अन्य सतियों के अमर नाम न लें, जैसा कि इस पत्र-लेखक ने किया है।

अन्त में मैं कहूँगा कि अवश्य ही यह सत्य है कि हिन्दू-धर्म में वास्तविक वैधव्य को गौरव माना गया है और ठीक ही माना गया है, फिर भी इस विश्वास के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि वैदिक काल में विधवा विवाह का पूर्ण निषेध था। मेरी लड़ाई सच्चे वैधव्य के विरुद्ध नहीं है। मेरी लड़ाई तो उसके नाम पर होनेवाले अत्याचार के विरोध में है। × × ×

—हिंदी नवजीवन, ६ अक्टूबर, १९२७]

[१३]

विधवा-विवाह की आवश्यकता
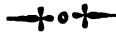
१. बलपूर्वक संयम

["वैधव्य कोई धर्म नहीं, धर्म तो संयम है। बल-प्रयोग और संयम दोनों परस्पर-विरुद्ध बातें हैं। एक की बदौलत मनुष्य की अधोगति होती है, दूसरी से उन्नति। बलपूर्वक पालन कराया गया वैधव्य पाप है, स्वेच्छा से पालित वैधव्य धर्म है, आत्मा की शोभा है, समाज की पवित्रता की ढाल है।"]

बालविधवाओं की कैसी करुणाजनक दुर्दशा है, कुटुम्ब में किस तरह उनके साथ दुर्व्यवहार होता है, किस तरह उनसे बलपूर्वक संयम रखवाया जाता है, जिससे कुलीन विधवाएँ दुराचार में प्रवृत्त हो जाती हैं, इन सबका हृदयद्रावक चित्र एक विधवा ने गांधीजी के सामने पत्र लिखकर प्रस्तुत किया। इस पर गांधीजी ने निम्न विचार प्रकाशित किये। —सम्पादक।

ऐसे पत्र मेरे नाम बराबर आते रहते हैं। यही नहीं बल्कि मैं जहाँ-जहाँ जाता हूँ तहाँ-तहाँ बालविधवाओं की दशा देखा करता हूँ। असंख्य बहिनों के सम्पर्क में मैं आता हूँ। इससे मैं उनके दुःख को समझ सकता हूँ। उनके दुःख में पुरुष जितना अधिक-से-अधिक हाथ बटा सकता है, उतना बटाने के लिए मैं अपने को स्त्री-सम बना रहा हूँ। अधिक बनने के लिए प्रयत्न करता हूँ। कितनी ही बहिनों के माँ के स्थान की पूर्ति करने की कोशिश करता हूँ। इस कारण इस बहिन के दुःख को मैं पूरा-पूरा समझता हूँ।

मेरा यह दृढ़ मत होता जाता है कि दुनिया में बाल-विधवा जैसी

कोई प्रकृति-विरुद्ध वस्तु होनी ही नहीं चाहिए। वैधव्य कोई धर्म नहीं: धर्म तो संयम है। बल-प्रयोग और संयम ये दोनों परस्पर-विरुद्ध बातें हैं। एक की बदौलत मनुष्य की अधोगति होती है और दूसरी से उन्नति। बल-पूर्वक पालन कराया गया वैधव्य पाप है, स्वेच्छा से पालित वैधव्य धर्म है, आत्मा की शोभा है, समाज की पवित्रता की ढाल है। यह कहना कि पन्द्रह साल की बालिका समझ-बूझकर वैधव्य का पालन करती है, अपने औद्धत्य और अज्ञान को प्रकट करना है। पन्द्रह वर्ष की बालिका क्या जान सकती है कि वैधव्य की वेदना क्या चीज़ है? माता-पिता का धर्म है कि उसके विवाह के लिए हर तरह की सहूलियतें कर दें। कुरीति के अधीन होना पामरता है। उसका विरोध करना पुरुषार्थ है।

युवती विधवाओं को मैं क्या सलाह दूँ? इसका विचार करते समय मुझे अपनी क्षमता का पता लग जाता है। उन्हें विवाह करने की सलाह देना तो आसान है पर वे विवाह किसके साथ करें? पति की खोज कौन करे? गैर-बिरादरी में शादी करलें? पति खोजने से कहीं मिलते भी हैं? क्या विज्ञापन देकर विवाह करें? विवाह कोई सौदा है? जहाँ लोकमत विरुद्ध है अथवा उदासीन है वहाँ बाल-विधवाओं के लिए पति की खोज करना लगभग असम्भव है। और यदि सुयोग्य पति न मिले तो हर किसी के साथ बँध जाने की सलाह मैं कैसे दूँ?

इसलिए मैं तो इन बाल-विधवाओं के माता-पिताओं तथा संरक्षकों से ही प्रार्थना कर सकता हूँ परन्तु 'नवजीवन' उनके हाथों में कहाँ पहुँचता है? इन लोगों तक 'नवजीवन' की पहुँच अधिकांश में नहीं होती। ऐसा धर्म-सङ्कट उपस्थित है।

परन्तु विधवाओं को मैं इतनी सलाह तो जरूर दे सकता हूँ कि वे शान्ति के साथ अपने दुःख को सहन करें। वे अपने संरक्षक अथवा अपनी संरक्षिका के सामने अपने हृदय को खोलें और अपनी सारी इच्छाएँ उन तक पहुँचा दें। यदि वे न मानें या न समझें तो चिन्ता न करें। यदि योग्य पति मिल जाय तो शादी कर लें। योग्य पति पाने के

लिए जिस तरह दमयन्ती, सावित्री, पार्वती ने तपश्चर्या की; उसी तरह वे भी इस युग के अनुकूल, इस युग में कर सकने लायक तपस्या करें। वह तप क्या है—अभ्यास। विधवा के लिए अभ्यास—शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक अभ्यास—से बढ़कर दूसरी वस्तु मन को स्थिर करनेवाली नहीं। वे अपना एक-एक क्षण चरखे को देकर शारीरिक तप करें: अक्षर-ज्ञान प्राप्त करके मानसिक तप और आत्मशुद्धि करके, आत्मा की पहचान करके, आध्यात्मिक तप करें। इन तीन कार्यों से उन्हें उनके संरक्षक नहीं रोक सकते। और यदि रोकें भी तो वह निरर्थक होगा। इन बातों का अधिकार हर व्यक्ति को है। यदि यह अधिकार न दिया जाय तो विधवाएँ अवश्य सत्याग्रह करें।

मैं जानता हूँ कि यह उपाय भी कठिन है। पर सच बात यह है कि सदुपाय दिखाई कठिन देते हैं, वास्तव में कठिन होते नहीं हैं, यह भगवद्वाक्य है।

विधवाओं के संरक्षक यदि न समझेंगे तो पछतायेंगे, क्योंकि हर जगह मैं दुराचार देख रहा हूँ। विधवा को जबरदस्ती रोकने में न तो उसकी, न कुटुम्ब की, न धर्म की रक्षा हो सकती है। मैं अपनी आँखों के सामने इन तीनों का नाश होता देख रहा हूँ।

पुरुष वर्ग, जिसके आश्रय में बाल-विधवाएँ हैं, सँभल जाय।

हिंदी नवजीवन, १० जुलाई, १९२५]

---

२. बलात् वैधव्य

["जिस महिला ने अपने पति के प्रेम का अनुभव करने के बाद स्वेच्छा से वैधव्य स्वीकार किया है उसके वैधव्य से उसका जीवन पवित्र होता है, उसका घर पावन बन जाता है और धर्म की भी उन्नति होती है। पर धर्म अथवा रूढ़ि-द्वारा जबरन लादा गया वैधव्य असह्य हो जाता है। इससे गुप्त पाप होता है, जिससे अपवित्रता फैलती है और धर्म की अवनति होती है।"]

मर गङ्गाराम ने हिन्दुस्तान में और अलग-अलग प्रान्तों में विधवाओं की संख्याओं के अङ्क प्रकाशित किये हैं। ये अङ्क काम के हैं और प्रत्येक सुधारक के हाथ में रहने चाहिएँ।

सर गङ्गाराम के मतानुसार सुधार का जो क्रम है उससे तो बहुत कम आदमी सहमत होंगे। वे यह क्रम देते हैं :—

पहले सामाजिक सुधार।

अन्त में स्वराज्य वा राजनैतिक सुधार।

पहले जमाने में सर गङ्गाराम-जैसे और उत्साही समाज-सुधारकों का हूबहू ऐसा मत नहीं था। रानाडे, गोखले, चन्द्रावरकर ने स्वराज्य को समाज-सुधार के समान महत्व दिया था। लोकमान्य तिलक भी समाज-सुधार में किसी से कम उत्साही नहीं थे। परन्तु उन्होंने या उनके पहले के लोगों ने सभी प्रकार के सुधारों का साथ-साथ होना उचित और आवश्यक माना था। सच पूछो तो लोकमान्य और गोखले तो राजनीतिक सुधार को और सभी सुधारों से अधिक आवश्यक मानते थे। उनका मत था कि हमारी राजनीतिक गुलामी ने हमें और किसी काम के लायक ही नहीं रख छोड़ा है।

बात यह है कि राजनैतिक सुधार का अर्थ होता है सामूहिक चैतन्य का जागरण। राष्ट्रीय प्रगति के और सभी अङ्गों पर इसका प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता। सभी सुधारों का अर्थ जागरण ही है। एक बार जाग्रत हो जाने पर केवल एक विभाग में सुधार करके ही राष्ट्र का चुप बैठना असम्भव है। इसलिए सभी आन्दोलनों को चलना चाहिए और साथ-साथ चलना चाहिए।

सुधारों के क्रम को लेकर सर गङ्गाराम से झगड़ने की जरूरत तो किसी को है नहीं। राजनैतिक वा आर्थिक उद्धार के लिए उनके बतलाये हुए उपाय को चाहे भले ही न माने परन्तु सामाजिक सुधार में सर गङ्गाराम के उत्साह की तो प्रशंसा ही करनी पड़ेगी। जो आँकड़े उन्होंने दिये है, सचमुच ही भयङ्कर हैं। वह पूछते हैं कि इन आँकड़े को देखकर

जिनसे बाल-विवाह और बलात् वैधव्य से फैली दुर्दशा का पता लगता है, कौन नहीं रो देगा ! १९२१ ई० की मनुष्य-गणना के अनुसार उस साल की हिन्दू विधवाओं की संख्या यों है :—

५ वर्ष तक की विधवाएँ	११,८९२
५—१० ,, ,,	८५,०३७
१०—१५ ,, ,,	२३२,१४७
	३२९,०७६

पिछली दो मनुष्य-गणनाओं के भी आँकड़े दिये गये हैं। उन दो मनुष्य-गणनाओं की संख्या से यह संख्या कुछ बड़ी ही है। दूसरी जाति की विधवाओं की भी संख्या दी हुई है। इससे इस बात का और भी अधिक पता चलता है कि हिन्दू बाल-विधवाओं पर कितना अत्याचार किया गया है। धर्म के नाम पर हम गोरक्षा के लिए शोर करते हैं परन्तु मनुष्य रूप में इन बाल-विधवा रूपी गायों की हम रक्षा नहीं करते। धर्म के लिए हम जबरदस्ती भी करेंगे परन्तु धर्म के ही नाम पर हम ३ लाख ऐसी बाल-विधवाओं को बलात् वैधव्य देते हैं जिन्होंने विवाह संस्कार का अर्थ भी नहीं समझा है। छोटी बालिकाओं को जबरन विधवा बना देना ऐसा पाप है जिसका कड़वा फल हम बराबर चख रहे हैं। हमारी आत्मा यदि कुण्ठित न होती तो १५ वर्ष से पहले हम विवाह ही नहीं होने देते—वैधव्य की तो बात ही दूर है, और यह कह देते कि इन तीन लाख लड़कियों का तो कभी भी धार्मिक रीति से विवाह हुआ ही नहीं। इस प्रकार के वैधव्य का विधान किसी भी शास्त्र में नहीं है। जिस महिला ने अपने पति के प्रेम का अनुभव करने के बाद स्वेच्छा से वैधव्य स्वीकार किया है उसके वैधव्य से उसका जीवन पवित्र होता है, उसका घर पावन बन जाता है और धर्म की भी उन्नति होती है। पर धर्म अथवा रूढ़ि-द्वारा जबरन लादा गया वैधव्य असह्य हो जाता है। इससे गुप्त पाप होता है जिससे अपवित्रता फैलती है और धर्म की अवनति होती है।

और जब हम देखते हैं कि ५० वर्ष के या उससे भी अधिक उमर के बूढ़े और रोगी मनुष्य छोटी बालिकाओं से विवाह करते हैं या मोल-भाव करके उन्हें खरीदते हैं, तब भी क्या हमें यह वैधव्य असह्य नहीं मालूम होता? जब तक हमारे यहाँ हजारों विधवाएँ पड़ी हुई हैं, हम ऐसी पोली जमीन पर बैठे हुए हैं, जो न जाने कब धँस जाय। यदि हमें पवित्र बनना है, यदि हमें हिन्दू धर्म की रक्षा करनी है तो हमें इस बलात् वैधव्य के विष से मुक्त होना ही होगा। जिनके यहाँ बाल-विधवाएँ हैं, उन्हें चाहिए कि वे हिम्मत करके अपनी बाल-विधवा कन्याओं का पुनर्विवाह नहीं—बल्कि विवाह ठिकाने से कर दें। पुनर्विवाह तो यह नहीं होगा क्योंकि उनका पहले कभी सच्चा विवाह हुआ ही नहीं था।

—हिंदी नवजीवन, ५ अगस्त १९२६]

[२ सितम्बर १९२६ के हिंदी नवजीवन में निम्नलिखित टिप्पणी प्रकाशित हुई थी।—संपा०)

एक पत्र-प्रेषक ने ठीक ही पूछा है कि हिन्दू विधवाओं के सम्बन्ध में सर गङ्गाराम के दिये हुए आँकड़ों से तात्पर्य क्या सभी हिन्दू विधवाओं से है, या केवल उनसे है जो रूढ़ि के कारण पुनर्विवाह नहीं कर सकती हैं? मैंने सर गङ्गाराम से इस प्रश्न का उत्तर मँगवा लिया है। उनका कहना है:—'मेरे दिये हुए आँकड़े केवल उन्हीं श्रेणियों तक परिमित नहीं हैं बल्कि उन आँकड़ों में समस्त हिन्दू जाति की विधवाएँ आ जाती हैं।'

सर गङ्गाराम ने यह भी लिखा है: 'केवल एक श्रेणी की विधवाओं के आँकड़े देना तो बेकार होता। हम सबको यह मालूम है कि मुसलमानों और ईसाइयों में विधवा का पुनर्विवाह हो सकता है, फिर भी इन जातियों में ऐसी अनेक विधवाएँ हैं जो आगे अथवा पीछे विवाह करेंगी ही। मैं तो हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह न करने की रुकावट को केवल उठाना

चाहता हूँ। मैं प्रत्येक विधवा को पुनर्विवाह करने के लिए मजबूर करना नहीं चाहता।'

निस्सन्देह ये विचार अच्छे हैं। लेकिन हिन्दुओं में केवल वे ही उपजातियाँ इस बन्धन में हैं, जिनमें पुनर्विवाह वर्जित है। इन उपजातियों को छोड़कर सभी हिन्दुओं में विधवाएँ करीब-करीब उतनी ही आजादी से विवाह करती हैं जितनी आजादी से ईसाइयों और मुसलमानों में। हाँ, न्याय की दृष्टि से यह कहना उचित होगा कि सभी ईसाई या मुसलमान विधवाएँ 'आगे या पीछे, पुनर्विवाह नहीं कर लिया करती हैं।' इनमें ऐसी बहुत-सी विधवाएँ हैं जो स्वेच्छा से दुबारा विवाह नहीं करतीं। यह बात बेशक ठीक है कि जिन जातियों में पुनर्विवाह मना है, उनके अतिरिक्त अन्य जातियों का भी झुकाव इस बात की ओर रहता है कि 'उच्च' कहलानेवाली जातियों की देखादेखी अपनी जाति की विधवाओं का भी दुबारा विवाह न करें। लेकिन जबतक हमें और आँकड़े नहीं मिलते तबतक ठीक-ठीक यह बताना कठिन है कि विधवाओं को पुनर्विवाह से रोकने की प्रथा ने कहाँ तक नुकसान पहुँचाया है। आशा है, सर गङ्गा-राम की संस्था और अन्य संस्थाएँ, जिन्होंने इस विषय को अपना क्षेत्र बना रखा है, आवश्यक आँकड़े इकट्ठा करके छपवायेंगी। अवश्य ही इस बात का पता लगा लेना आवश्यक है कि 'उच्च' जातियों में, जहाँ पुनर्विवाह वर्जित है, २० बरस से नीची उम्र की कितनी विधवाएँ हैं। उक्त पत्र लिखनेवाले सज्जन को, जिन्होंने शायद पुनर्विवाह के विरुद्ध प्रचलित बन्धन को न्यायसङ्गत ठहराने की इच्छा से प्रेरित होकर पत्र लिखा है, तथा ऐसे ही विचार रखनेवाले अन्य सज्जनों को वे बुराइयाँ न भूल जानी चाहिएँ, जो युवती विधवाओं का पुनर्विवाह न करने के कारण उत्पन्न होती हैं। यदि एक भी ऐसी बाल-विधवा है, जिसका विवाह नहीं हुआ है तो इस अन्याय को मिटाना जरूरी है।

---

३. आदर्शों का दुरुपयोग

["जो माता-पिता अपने संरक्षकत्व का दुरुपयोग करके अपनी दुधमुँही लड़की का विवाह किसी जर्जर बुड्ढे से अथवा किसी किशोर से कर देते हैं उनका कम-से-कम यह कर्त्तव्य है कि यदि उनकी लड़की विधवा हो जाय तो उसका पुनर्विवाह करके अपने पाप का प्रायश्चित्त करलें।"]

बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह पर आये हुए एक पत्र से मैं निम्न अंश उद्धृत करता हूँ :—

"२३ सितम्बर के 'यंग इंडिया' में आगरा के 'बी' महाशय के पत्र के उत्तर में आप कहते हैं कि बाल-विधवाओं के माता-पिताओं को चाहिए कि वे स्वयं उनका पुनर्विवाह कर दें। माता-पिता स्वयं ऐसा कैसे कर सकते हैं? वे तो कन्यादान कर चुके होते हैं, अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से अपनी कन्या का विवाह कर चुके होते हैं। निश्चय ही माता-पिताओं के लिए यह असम्भव है कि वे पति की मृत्यु पर अपनी कन्या का विवाह दूसरे के साथ करदें क्योंकि वे गम्भीरता के साथ धार्मिक कृत्यों-द्वारा अपनी कन्या के ऊपर अपना सारा अधिकार अपने दामाद को सौंप चुके होते हैं। लड़की की अगर इच्छा हो तो वह स्वयं अपना दूसरा विवाह कर सकती है, लेकिन पति की मृत्यु के बाद संसार में और किसी को उसका पुनर्विवाह करने का अधिकार नहीं है। उसके माता-पिता ने तो उसके पति को उसका दान कर दिया था। और इसी वजह से यदि लड़की भी मृत्यु के समय अपने पति से पुनर्विवाह कर लेने की स्पष्ट आज्ञा पाये बिना अपना पुनर्विवाह करती है तो अपने परलोकवासी पति के साथ विश्वासघात करती है। इस प्रकार तर्क की दृष्टि से यदि विवाह कन्यादान पद्धति से हुआ है, जोकि अधिकांश सनातनियों में प्रचलित है, तो एक विधवा के लिए—चाहे वह बालिका हो, युवती हो अथवा

बूढ़ी हो,—तबतक अपना पुनर्विवाह करना असम्भव है जबतक उसके मृत पति ने उसे इसके लिए अनुमति न दे दी हो। एक सच्चा सनातनी पति ऐसी अनुमति देने का विचार तक मन में नहीं ला सकता। वह अपनी पत्नी को, यदि वह सती होना चाहे तो, सती होने की अनुमति खुशी से दे देगा। नहीं तो वह कम-से-कम यही पसन्द करेगा कि मेरी स्त्री अपना शेष जीवन मेरी आराधना में अथवा यों कहो कि ईश्वर की आराधना में बितावे। ऐसा वह एकमात्र इस इच्छा अथवा धर्म-भाव के वश करेगा कि हिन्दू विवाह और वैधव्य के उच्च आदर्शों की, जो स्वतन्त्र न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं, रक्षा हो।"

मैं इस प्रकार के तर्क को एक उच्च आदर्श का दुरुपयोग समझता हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि पत्र-लेखक का मन्तव्य अच्छा है, लेकिन स्त्रियों की पवित्रता के बारे में आवश्यकता से अधिक चिन्ता के कारण उनकी दृष्टि प्राथमिक न्याय पर नहीं पड़ी है। छोटी-छोटी बालिकाओं का कन्या-दान क्या मानी रखता है? क्या पिता को अपने बच्चों पर साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त है? वह उनका संरक्षक है, स्वामी नहीं। जब वह अपनी संरक्षित कन्या की स्वाधीनता बेचने की चेष्टा करता है तो अपने संरक्षण के स्वत्व का दुरुपयोग करके वह स्वत्व खो बैठता है। फिर एक ऐसे बालक को कैसे दान दिया जा सकता है, जो उस दान को लेने के सर्वथा अयोग्य है? जिसमें दान लेने की सामर्थ्य न हो उसे दान कैसे दिया जा सकता है? निश्चय ही कन्यादान एक रहस्यमय धार्मिक कृत्य है, जिसका एक आध्यात्मिक महत्व है। ऐसे शब्दों का बिल्कुल शाब्दिक अर्थ में उपयोग करना भाषा और धर्म का दुरुपयोग करना है। इस प्रकार तो पुराणों की रहस्यमयी भाषा का भी शाब्दिक अर्थ करके विश्वास किया जा सकता है कि पृथ्वी एक चपटी थाली की तरह सहस्र फनवाले शेषनाग के माथे पर टिकी है और नारायण क्षीरसागर में उन्हीं शेषनाग की शय्या पर आराम से शयन कर रहे हैं।

जो माता-पिता अपने संरक्षकत्व का दुरुपयोग करके अपनी दुधमुँही

लड़की का विवाह किसी जर्जर बुड्ढे से अथवा किसी किशोर से कर देते हैं उनका कम-से-कम यह कर्त्तव्य है कि यदि उनकी लड़की विधवा हो जाय तो उसका पुनर्विवाह करके अपने पाप का प्रायश्चित्त कर लें। जैसा कि मैं अपने एक पिछले लेख में कह चुका हूँ, इस प्रकार की शादी शुरू से रद्द माननी चाहिए।

—हिंदी नवजीवन, १८ नवम्बर, १९२६]

---

[१४]

सतीत्व का आदर्श

१. बीसवीं सदी की सती

["सतीत्व पवित्रता की पराकाष्ठा है। यह पवित्रता आत्मघात से प्राप्त अथवा सिद्ध नहीं हो सकती। यह पवित्रता केवल अनवरत चेष्टा से, अनवरत आत्मपीड़ा से, आती है।"]

घाटकोपर से एक बहिन लिखती हैं :

"२३ अप्रैल के "बम्बई समाचार" में प्रकाशित बीसवीं सदी की लुहाणी जाति की सती की बात यदि सच है तो इस बहिन की पतिभक्ति वन्दनीय है। इसके सम्बन्ध में यदि आप अपना मत 'नवजीवन' में प्रकाशित करेंगे तो विशेष जानकारी हासिल होगी।"

मैं आशा करता हूँ, यह समाचार सच नहीं है। वह बहिन किसी बीमारी से अथवा किसी आकस्मिक घटना से मरी है। आत्मघात करके नहीं मरी है। हमारे पूर्वजों ने सती के लक्षण बताये हैं और वे आज भी लागू होते हैं। सती वही है जो अपने पति में प्रेम और भक्ति रखती है और पति की जीवितावस्था में तथा उसकी मृत्यु के बाद भी अपनी निःस्वार्थ सेवा से विशिष्टता प्राप्त करती है। वह मन, वचन और कर्म से निर्विकार रहती है। पति की मृत्यु पर आत्महत्या करने से ज्ञान नहीं, बल्कि आत्मा के गुणों के सम्बन्ध में अज्ञान सूचित होता है। आत्मा अमर, अपरिवर्तनशील और सर्वव्यापी है। शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। आत्मा एक नाशवान शरीर से मुक्त होने पर दूसरे नाशवान शरीर में चली जाती है और यह चक्र तबतक चला करता है

जबतक वह भवबन्धन से पूर्णरूप से मुक्त नहीं हो जाती। इस सत्य की अनगिनती ऋषियों और तत्वज्ञानियों ने अपने अनुभव से पुष्टि की है। आज भी इच्छा करने पर यह सत्य अनुभवगम्य है। ऐसी दशा में आत्मघात को उचित कैसे बताया जा सकता है?

फिर सच्चा विवाह केवल दो शरीरों का मिलन नहीं है। वह दो आत्माओं का मिलन भी सूचित करता है। यदि विवाह शरीर-सम्बन्ध से आगे और कुछ नहीं है तो विधवा होने पर पत्नी को पति के चित्र से अथवा उसकी मोम की मूर्ति से ही सन्तोष कर लेना चाहिए। लेकिन आत्मघात व्यर्थ ही नहीं है, बुरा भी है। ऐसा करने से मृत शरीर तो पुनर्जीवित हो नहीं उठेगा, बल्कि उलटे इस संसार से एक जीव और चला जायगा।

विवाह का आदर्श है शरीर के द्वारा आत्मा का मिलन। उसमें मनुष्य से प्रेम करके ईश्वर से अथवा सारे जगत् से प्रेम करने की कला सीखने का भेद छिपा हुआ है। इसी कारण अमर मीरा गाती फिरती थी:

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।"

इससे सिद्ध होता है कि एक सती की दृष्टि में विवाह अपनी पाशविक भूख तृप्त करने का साधन नहीं है, बल्कि अपने निजत्व को पति में लीन करके निःस्वार्थ और निरहङ्कार सेवा का पाठ सीखने का साधन है। वह अपना सतीत्व पति की मृत्यु पर उसके साथ उसकी चिता पर बैठकर नहीं सिद्ध करेगी, बल्कि उसी घड़ी से सिद्ध करने लगेगी, जिस घड़ी से वह सप्तपदी की रस्म के समय पति के प्रति सत्यपरायणता का व्रत अङ्गीकार करती है। वह साध्वी बनकर, तपस्विनी बनकर और संन्यासिनी बनकर अपने पति की, कुटुम्ब की और देश की सेवा में अपने को अर्पित कर देगी। वह इन्द्रिय-जनित सुख और आनन्द से घृणा करेगी। वह घर गृहस्थी कि चिन्ताओं और परिवार के स्वार्थों की सङ्कीर्ण दुनिया की दासता स्वीकार न करेगी, बल्कि अधिकाधिक आत्मत्याग और आत्मसंयम करके अपने ज्ञान के भण्डार में वृद्धि करने तथा सेवा-शक्ति को बढ़ाने के

अवसरों से लाभ उठायेगी और अपने पति में लीन होकर जगत् में लीन होना सीखेगी।

ऐसी सती पति की मृत्यु पर दुःख से पागल नहीं होगी, बल्कि अपने स्वर्गीय पति के समस्त आदर्शों और गुणों को अपने कार्यों से प्रकट करेगी और इस प्रकार उसे अमर बनावेगी। वह अनुभव करेगी कि जिससे मेरा विवाह हुआ था उसकी आत्मा मरी नहीं है, बल्कि जीवित है और फिर से व्याह करने का विचार तक न करेगी।

यहाँ पर शायद पाठकों के मन में यह प्रश्न उठे कि 'आपने सती का जैसा चित्र खींचा है, उसमें वह कामवासना अथवा पाशविक भूख से परे हैं। उसे सन्तान की इच्छा हो ही नहीं सकती। तब फिर वह विवाह-बन्धन में ही क्यों बँधे ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आज के हिन्दू समाज में अधिकांश मामलों में विवाह की पसन्दगी या नापसन्दगी का कोई सवाल ही नहीं उठता। फिर कुछ लोगों का विचार है कि आज के जर्जरित युग में विवाह शील का रक्षक और संयम का हेतु है। और सच पूछा जाय तो मैं स्वयं ऐसे, कई व्यक्तियों के उदाहरण जानता हूँ, जिनमें विवाह के समय पाशविक वासना वर्तमान थी, पर बाद के जीवन में वे पूर्ण संयम के आदर्श में रँग गये और उन्हें अपने इस आदर्श की साधना में विवाहित जीवन सहायक जान पड़ा। मैंने इन उदाहरणों को यह दिखाने के लिए सामने रखा है कि सती के आदर्श का मैंने जो चित्रण किया है, वह एक काल्पनिक आदर्श नहीं है, जिसका सिद्धान्तों की दुनिया के बाहर कोई स्थान नहीं होता, बल्कि एक ऐसा आदर्श है जिसे इसी दुनिया में सिद्ध किया जा सकता है।

पर मैं यह स्वीकार करता हूँ कि एक औसत पत्नी, जो सती के आदर्शों तक पहुँचने की कोशिश करेगी, माँ भी होगी। इसलिए उसमें ऊपर मैंने जिन गुणों का उल्लेख किया है वे होने ही चाहिएँ। इसके अलावा उसे बच्चों के पालन-पोषण की जानकारी भी होनी चाहिए, जिससे उसकी सन्तान देश की सच्ची सेवा कर सके।

ऊपर मैं जो बातें पत्नी के सम्बन्ध में कह चुका हूँ, वही बातें समान रूप से पति पर भी लागू होती हैं। यदि पत्नी को पति में श्रद्धा और भक्ति रखनी चाहिए तो पति को भी स्त्री में विश्वास और श्रद्धा रखनी चाहिए। आप एक के लिए तो एक कसौटी और दूसरे के लिए दूसरी कसौटी नहीं रख सकते। फिर भी हमने यह कभी नहीं सुना कि पति अपनी मृत पत्नी की चिता पर जलकर मर गया। इसलिए हमें यह मान लेना चाहिए कि पति के साथ पत्नी के जल मरने की प्रथा की उत्पत्ति मिथ्या विश्वास से और पुरुष के दम्भ से हुई है। यदि यह साबित भी कर दिया जाय कि एक समय इस प्रथा का कुछ रहस्य था तो भी आज के युग में यह प्रथा जङ्गली मानी जायगी। स्त्री पुरुष की दासी नहीं, उसकी सहचरी है। वह उसकी अर्द्धाङ्गिनी, उसकी सहचरी, उसकी मित्र प्रसिद्ध है। स्त्री को भी पुरुष के समान ही अधिकार प्राप्त है। वह पुरुष की सहधर्मिणी है। इसलिए एक दूसरे के प्रति और जगत् के प्रति दोनों के कर्त्तव्य समान होने चाहिएँ।

इसलिए मेरे मत से इस बहिन ने व्यर्थ ही आत्मघात किया। इसका उदाहरण अनुकरणीय तो कदापि नहीं है। यहाँ पर शायद मुझसे प्रश्न किया जाय कि क्या मैं उसके जल मरने के साहस की प्रशंसा नहीं करता? मैं समझ-बूझ कर उत्तर दूँगा—नहीं। क्या दुष्ट कर्म करनेवाले व्यक्ति भी इस प्रकार का साहस नहीं दिखाते? लेकिन अभी तक उनकी स्तुति करने का विचार किसी के मन में नहीं उठा। ऐसी दशा में मैं आत्मघात की अविवेकपूर्ण प्रशंसा करके भ्रम में पड़ी हुई किसी बहिन को अनजान में ही विपथ की ओर ले जाने का पाप अपने सिर पर क्यों लूँ? सतीत्व पवित्रता की पराकाष्ठा है, यह पवित्रता आत्मघात से प्राप्त अथवा सिद्ध नहीं हो सकती। यह पवित्रता केवल अनवरत चेष्टा से, अनवरत आत्म-पीड़ा से आती है।

—'हिंदी नवजीवन' ७ मई, १९३१]

———

२. फिर भी वही राय

["हमें चाहिए कि स्त्रियों को अन्ध पति-प्रेम सिखाने की अपेक्षा उन्हें स्वतन्त्र बनायें, और उन्हें अपने आचरण-द्वारा समझा दें कि उनकी आत्मा भी पुरुष की देह में निवास करनेवाली आत्मा के समान ही अधिकारिणी है।"]

श्री मथुरादास देवराम 'बीसवीं सदी की सती' शीर्षक लेख के बारे में लिखते हैं :—

"आपने 'बीसवीं सदी की सती' शीर्षक लेख के पाँचवें पैराग्राफ में जैसा लिखा है, वह बहिन उसी तरह शुद्धभाव से पति में लीन हो चुकी थी। दृढ़ निश्चयवाली थी। व्रत-उपवास करके दया-दान करके आत्म-सन्तोष माननेवाली थी। कुटुम्ब की सेवा तो उसने ऐसे अनन्य भाव से की थी कि आज भी उसके सगे-सम्बन्धी मुक्तकण्ठ से उसकी सेवा का बखान करते हैं। देश के लिए उसके दिल में बहुत दर्द था। गत सत्याग्रह में अवसर आने पर पति-पत्नी दोनों जेल जाने अथवा सत्याग्रही पर पड़नेवाले सारे कष्टों को सहने के लिए उत्सुक थे। सत्याग्रह आन्दोलन में विदेशी वस्त्र न छूने की प्रतिज्ञा की थी। उस बहिन के जीवन के सम्बन्ध में इतना तो मैं भलीभाँति जानता हूँ।

"'बंबई समाचार' में जो समाचार छपा है—उसे चाहे बहिन की आत्महत्या कहिए या उसका सतीत्व कहिए—वह ठीक है, बल्कि कुछ अंशों में अपूर्ण है। बहिन ने उत्साहपूर्वक अपना शृङ्गार किया। पति को ज़मीन पर सुलाया, फिर दूर खड़ी-खड़ी देखती रही। जलते समय उफ़ तक नहीं किया। कमर से आँख तक उसका सारा शरीर बिल्कुल जल गया था, जिससे ऊपर की त्वचा नहीं रह गई थी। फिर भी इतना जल चुकने पर भी, उसके कपाल के कुंकुम तथा सिर के बालों को अग्नि ने स्पर्श तक नहीं किया था। उसके हाथ बिल्कुल झुलस गये थे, फिर भी पुलिस के बयान पर उसने अपने हाथ से हस्ताक्षर किये थे। वह

स्वयं चलकर घर में आई। शरीर बुरी तरह जल गया था, फिर भी अन्त तक पूर्ण प्रसन्नता के साथ हरएक से बात-चीत की। पति के साथ अपने को श्मशान ले जाने का आग्रह किया। अपने निश्चय के बल पर एक ही चिता पर जलने का अपना मनोरथ प्रकट किया, आध घण्टा ठहरने को कहा। दो बार चिता बुझ गई, परन्तु उसी चिता में उसकी मृत-देह रखने पर चिता से लपटें उठने लगीं और दो घण्टे में दोनों की देह भस्मीभूत हो गई। ये सारी बातें बिल्कुल सच हैं। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि इस सारे चमत्कार में अवश्य ही प्रकृति ने योग दिया था। अगर आपको फिर विश्वास न होता हो तो पडधा या थाण में जिसके द्वारा चाहे जाँच करवाके स्वयं सचाई जान लें।

"और आपने अन्त में जिस प्रकार इस घटना को अननुकरणीय कहा है, उसी प्रकार उस बहिन ने भी प्राण छोड़ने से पहले हरएक से यही प्रार्थना की थी कि कोई भूलकर भी मेरा अनुकरण न करे।

"उस बहिन ने जो मार्ग ग्रहण किया, वह बड़े साहस का था; अनुकरणीय नहीं। उसकी जल मरने की शक्ति की स्तुति भले ही न की जाय, परन्तु मेरे विचार से उसके सात्त्विक पति-प्रेम की, अद्भुत प्रेम की, स्तुति की जा सकती है।

"प्रेम पागल है। प्रेम के साथ मोह भी हो तो वह पागल तथा अज्ञान दोनों है। परन्तु निष्काम प्रेम अथवा पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ ज्ञान-सहित प्रेम वैज्ञानिक नहीं, किन्तु सामान्य दृष्टि से—जल-मीन के प्रेम-जैसा होता है। इस बहिन का प्रेम उसी स्थिति तक पहुँचा हुआ था। बहिन ने अपनी आँखों के सामने पति-वियोग होते देखा और वियोग सहन करने की शक्ति न होने के कारण प्रेम के पागलपन में असीम साहस किया। शास्त्रों के वचन का उपयोग 'सहन करने' में नहीं किया, वरं प्रेमी के पीछे मर मिटने में किया। और इस प्रकार वह अपने पति की सहगामिनी बनी। पति की मृत्यु होने पर उसने स्वयं भी मर जाने का निश्चय किया। उसकी इच्छा प्रबल और दृढ़ होने के कारण

प्रकृति ने कुछ देर के लिए अपना नियम भुलाकर उसकी सहायता की। उसे सती नहीं तो और क्या कहा जाय? यदि उस बहिन का साहस अथवा जल मरने की शक्ति नहीं, तो उसका वैराग्य और प्रेम तो अवश्य ही स्तुत्य कहा जा सकता है।

"आपने अपने लेख के नौवें पैरा में ठीक ही लिखा है कि 'सती स्त्री मर्यादा में रहकर सन्तानोत्पत्ति के कार्य में भाग लेगी।' परन्तु इन शब्दों के अनेक-अनेक अर्थ किये जा सकते हैं। और इसी कारण अत्यन्त अनर्थकारी भ्रम भी हो सकता है। इसलिए आपने ये शब्द जिस हेतु लिखे हैं, उसका स्पष्टीकरण आपके ही द्वारा होना बहुत ज़रूरी है।"

न्याय की दृष्टि से मैंने यह पत्र छापा है। इतनी बातें जानने के बाद भी मेरी वही राय स्थिर है। प्रकाशित समाचार अक्षरशः सत्य है, यह जानकर मेरा दुःख बढ़ता है और मेरी राय अधिक वज़नदार बनती है। यह उदाहरण प्रेम का नहीं, वरं आवेश का है। आवेश में आदमी क्या नहीं करता? यही बहिन अगर जीवित रही होती तो अपने जीवन-द्वारा अपने पति की स्मृति को स्थायी बनाती। मर कर वह पति के साथ नहीं गई। देह के नष्ट होने के साथ ही सम्बन्ध टूट जाता है, यह मानना ही भूल है। यदि यह कदाचित् सच हो तो भी वह इस सम्बन्ध की रक्षा नहीं कर सकी। पति की देह के खाक होने के साथ उनकी देह भी खाक हो गई, अर्थात् एक देह के जाने पर दूसरी देह भी चली गई। मुझे इस करुण घटना में कहीं भी कोई बात स्तुति-योग्य नहीं जान पड़ती। मै चाहता हूँ कि इस बहिन के प्रियजन इस आत्महत्या को सतीत्व का नाम न दें। हमें चाहिए कि स्त्रियों को अन्ध पति-प्रेम सिखाने की अपेक्षा उन्हें स्वतन्त्र बनायें, और उन्हें अपने आचरण द्वारा समझा दें कि कि उनकी आत्मा भी पुरुष की देह में निवास करने वाली आत्मा के समान ही अधिकारिणी है।

अब श्री मथुरादास के अन्तिम प्रश्न के बारे में। 'सती स्त्री मर्यादा में रह कर सन्तानोत्पत्ति के कार्य में भाग लेगीं, इस वाक्य में 'सती स्त्री

शब्द सौभाग्यवती और शीलवती स्त्री के लिए प्रयुक्त हुआ है। मेरा आदर्श तो यह है कि पति-पत्नी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करें। पर यदि ऐसा न कर सकें, तो कहना चाहता था कि वे दोनों मर्यादा में रह कर सन्तानोत्पत्ति के कार्य में भाग लें। अर्थात् दोनों का सहवास सन्तानोत्पादन के लिए ही हो और वह भी इच्छित संख्या में सन्तान उत्पन्न करने की सीमा के भीतर ही हो। मेरी दृष्टि में इसी का नाम मर्यादित संयम है।

—हिंदी नवजीवन, २१ मई, १९३१]

[१५]

विविध समस्याएँ

—+*+—
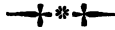
१. अश्लील विज्ञापन

["अगर स्त्री यह विचार छोड़ दे कि वह अबला है और पुरुष के खेलने का खिलौना होने के ही योग्य है तो वह स्वयं अपना तथा पुरुष का............जन्म सुधार सकती है और दोनों के ही लिए इस संसार को अधिक सुखमय बना सकती है।"]

एक मासिक पत्र में प्रकाशित एक अत्यन्त वीभत्स पुस्तक के विज्ञापन की कतरन एक बहिन ने मुझे भेजी है और लिखा है :—

"यह विज्ञापन...के पृष्ठों पर नजर डालते हुए मेरे देखने में आया। मैं नहीं जानती कि यह मासिक पत्र आपके पास जाता है या नहीं। आपके पास यह जाता भी हो तो भी मेरे ख़याल में इसकी तरफ़ नज़र डालने का आपको कभी समय नहीं मिलता होगा। पहले भी एक बार मैंने आपसे 'अश्लील विज्ञापनों' के बारे में बात की थी। मेरी बड़ी इच्छा है कि इस विषय में आप किसी समय कुछ लिखें। जिस पुस्तक का यह विज्ञापन है उस क़िस्म की पुस्तकों की आज बाज़ार में बाढ़-सी आ रही है, यह बिलकुल सच्ची बात है, पर...जैसे जिम्मेदार पत्रों के लिए क्या यह उचित है कि वे ऐसी गन्दी पुस्तकों की बिक्री को प्रोत्साहन दें? इन चीज़ों से मेरा स्त्री-हृदय इतना अधिक दुखता है कि मैं सिवा आपके और किसी को लिख नहीं सकती। ईश्वर ने स्त्री को एक विशेष उद्देश्य के लिए जो वस्तु दी है उसका विज्ञापन लम्पटता को उत्तेजन देने के लिए किया जाय, यह चीज़ इतनी हीन है कि इसके प्रति घृणा शब्दों से

प्रकट नहीं की जा सकती…। मैं चाहती हूँ कि इस सम्बन्ध में भारत के प्रमुख अख़बारों और मासिक पत्रों की क्या ज़िम्मेदारी है, इसपर आप लिखें।'

इस विज्ञापन में से कोई भी अंश मैं यहाँ उद्धृत नहीं करना चाहता। पाठकों से सिर्फ़ इतना ही कहता हूँ कि जिस पुस्तक का यह विज्ञापन है उसमें के व्यञ्जित लेखों का वर्णन करने में जितनी अश्लील भाषा का उपयोग किया जा सकता है उतना किया गया है। इस पुस्तक का नाम 'स्त्री के शरीर का सौन्दर्य' है, और विज्ञापन देनेवाला फ़र्म पाठकों से कहता है कि जो यह पुस्तक ख़रीदेगा उसे 'नववधू के लिए नया ज्ञान' और 'सम्भोग अथवा सम्भोगी को कैसे रिझाया जाय?' नामक दो पुस्तकें और मुफ्त दी जायँगी।

इस क़िस्म की पुस्तकों का विज्ञापन करनेवालों को मैं किसी तरह रोक सकता हूँ या पत्र-सम्पादकों और प्रकाशकों से उनके अख़बारों-द्वारा मुनाफ़ा उठाने का इरादा मैं छुड़वा सकता हूँ, ऐसी आशा अगर यह बहिन रखती है तो वह व्यर्थ है। ऐसी अश्लील पुस्तकों या विज्ञापनों के प्रकाशकों से मैं चाहे जितनी अपील करूँ उससे कोई मतलब निकलने का नहीं; किन्तु मैं इस पत्र लिखनेवाली बहिन से और ऐसी ही दूसरी विदुषी बहिनों से इतना कहना चाहता हूँ कि वे बाहर मैदान में आवें और जो काम ख़ास करके उनका है, और जिसके लिए उनमें ख़ास योग्यता है उस काम को वे शुरू कर दें। अक्सर देखने में आया है कि किसी मनुष्य को ख़राब नाम दे दिया जाता है और कुछ समय बाद वह स्त्री या पुरुष ऐसा मानने लगता है कि वह ख़ुद ख़राब है। स्त्री को 'अबला' कहना उसे बदनाम करना है। मैं नहीं जानता कि स्त्री किस प्रकार अबला है। ऐसा कहने का अर्थ अगर यह हो कि स्त्री में पुरुष की जैसी पाशविक वृत्ति नहीं है या उतनी मात्रा में नहीं है जितनी कि पुरुष में होती है, तो यह आरोप माना जा सकता है; पर यह चीज़ तो स्त्री को पुरुष की अपेक्षा पुनीत बनाने वाली है; और स्त्री पुरुष की अपेक्षा पुनीत तो है ही। वह अगर आघात करने में निर्बल है, तो कष्ट सहन

करने में बलवान है। मैंने स्त्री को त्याग और अहिंसा की मूर्ति कहा है। अपने शील या सतीत्व की रक्षा के लिए पुरुष पर निर्भर न रहना उसे सीखना है। पुरुष ने स्त्री के सतीत्व की रक्षा की हो, ऐसा एक भी उदाहरण मुझे मालूम नहीं। वह ऐसा करना चाहे तो भी नहीं कर सकता। निश्चय ही राम ने सीता के या पाँच-पाण्डव ने द्रौपदी के शील की रक्षा नहीं की। इन दोनों सतियों ने अपने सतीत्व के बल से ही अपने शील की रक्षा की। कोई भी मनुष्य बगैर अपनी सम्मति के अपनी इज्ज़त-आबरू नहीं खोता। कोई नर-पशु किसी स्त्री को बेहोश करके उसकी लाज लूट ले तो इससे उस स्त्री के शील या सतीत्व का लोप नहीं होगा; इसी तरह कोई दुष्टा स्त्री किसी पुरुष को जड़ बना देने वाली दवा खिलादे और उससे अपना मन चाहा कराये तो इससे उस पुरुष के शील या चारित्र्य का नाश नहीं होता।

आश्चर्य तो यह है कि पुरुषों के सौन्दर्य की प्रशंसा में पुस्तकें बिल्कुल नहीं लिखी गईं। तो फिर पुरुष की विषय-वासना उत्तेजित करने के लिए ही साहित्य हमेशा क्यों तैयार होता रहे? यह बात तो नहीं कि पुरुष ने स्त्री को जिन विशेषणों से भूषित किया है उन विशेषणों को सार्थक करना पसन्द है? स्त्री को क्या यह अच्छा लगता होगा कि उसके शरीर के सौन्दर्य का पुरुष अपनी भोग-लालसा के लिए दुरुपयोग करे? पुरुष के आगे अपनी देह की सुन्दरता दिखाना क्या उसे पसन्द होगा? यदि हाँ, तो किस लिए? मैं चाहता हूँ कि ये प्रश्न सुशिक्षित बहिनें खुद अपने दिल से पूछें। ऐसे विज्ञापनों और ऐसे साहित्य से उनका दिल दुखता हो तो उन्हें इन चीज़ों के लिए अविराम युद्ध चलाना चाहिए, और एक क्षण में वे इन चीज़ों को बन्द करा देंगी। स्त्री में जिस प्रकार बुरा करने की, लोक का नाश करने की शक्ति है, उसी प्रकार भला करने की, लोक-हित-साधन करने की शक्ति भी उसमें सोई हुई पड़ी है। यह भान अगर स्त्री को हो जाय तो कितना अच्छा हो। अगर स्त्री यह विचार छोड़ दे कि वह अबला है और पुरुष के खेलने का खिलौना होने

के ही योग्य हैं तो वह स्वयं अपना तथा पुरुष का—फिर चाहे वह उसका पिता हो, पुत्र हो या पति हो—जन्म सुधार सकती है, और दोनों के ही लिए इस संसार को अधिक सुखमय बना सकती है। राष्ट्र-राष्ट्र के बीच के पागलपन-भरे युद्धों से और इससे भी ज्यादा पागलपन-भरे समाज-नीति की नींव के विरुद्ध लड़े जाने वाले युद्धों से अगर समाज को अपना संहार नहीं होने देना है, तो स्त्री को पुरुष की तरह नहीं, जैसा कि कुछ स्त्रियाँ करती हैं, बल्कि स्त्री की तरह अपना योग देना ही होगा। अधिकांशतः बिना किसी कारण के ही मानवप्राणियों का संहार करने की जो शक्ति पुरुष में है उस शक्ति में उसकी बराबरी करने से स्त्री मानवजाति को सुधार नहीं सकती। पुरुष की जिस भूल से पुरुष के साथ-साथ स्त्री का भी विनाश होने वाला है उस भूल से पुरुष को बचाना उसका परम कर्तव्य है, यह स्त्री को समझ लेना चाहिए। यह वाहियात विज्ञापन तो सिर्फ यही बताता है कि हवा का रुख किस तरफ है। इसमें बेशर्मी के साथ स्त्री का अनुचित लाभ उठाया गया है। 'दुनिया की जङ्गली जातियों की स्त्रियों के शरीर-सौन्दर्य' को भी इसने नहीं छोड़ा।

—हरिजन सेवक, २१ नवम्बर, १९३६]

---

२. एक जटिल समस्या

["जिस विकार के वश में पुरुष है, उसी के वश में स्त्री भी है। फर्क सिर्फ़ इतना ही है कि पुरुष का दोष प्रकट नहीं होता और स्त्री का सहज ही प्रकट हो जाता है।"]

एक युवक के पत्र का केवल सारांश नीचे दिया जाता है :—

"मैं विवाहित हूँ लेकिन विदेश चला गया था। मेरा एक मित्र था जिसपर मुझे और मेरे माता-पिता को पूरा विश्वास था। उस मित्र ने मेरी पत्नी को बहका लिया। अब मैं विदेश से वापिस आया हूँ तो स्त्री को उस मित्र के सम्भोग से गर्भवती पाता हूँ। पिता से कहने पर वे

कहते हैं कि गर्भपात कराना चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो कुटुम्ब की लाज चली जायगी। मुझे गर्भपात कराने में धर्म नहीं दीखता। स्त्री को खूब पश्चात्ताप होता है। उसने खाना-पीना बन्द कर रखा है और खूब रोती-पीटती है। मेरा क्या धर्म है, मुझे बतलायेंगे?"

यह पत्र मैं बहुत सङ्कोच के साथ प्रकाशित कर रहा हूँ। ऐसी घटनाएँ समाज में होती रहती हैं, यह बात सब जानते हैं। इसके बारे में प्रकट रूप में मर्यादा के साथ चर्चा करना मुझे अनुचित नहीं मालूम पड़ता। यही नहीं, बल्कि आवश्यक मालूम पड़ता है।

गर्भपात नहीं कराना चाहिए, यह तो सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट है। जैसा दोष इस बेचारी स्त्री ने किया है वैसा दोष हजारों पति किया करते हैं, पर उनको कोई नहीं पूछता। समाज उनको बर्दाश्त कर लेता है। इतना ही नहीं, उनकी निन्दा भी नहीं करता। जिस विकार के वश में पुरुष है, उसी के वश में स्त्री भी है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि पुरुष का दोष प्रकट नहीं होता और स्त्री का सहज ही प्रकट हो जाता है।

स्त्री दया की पात्री है। उसके बालक का प्रेम के साथ पालन करना पति का धर्म है। पिता की इच्छा के अधीन न होना धर्म है। स्त्री के साथ पति अब सम्भोग करे या न करे, यह एक जटिल प्रश्न है। यदि पति एक पत्नीव्रती हो, उसने कभी दोष न किया हो तो पत्नी-संग का त्याग करना उसके लिए उचित है। पत्नी का पालन-पोषण करे, उसे ज्ञान प्राप्त कराने की व्यवस्था करे और पत्नी के शुद्ध रहने में सहायता करे। यदि पत्नी को सच्चा पश्चात्ताप हुआ हो और पति उसे ग्रहण करे तो मुझे उसमें कोई दोष नहीं दीखता। मैं ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकता हूँ जब कि स्त्री का मन दोष से पूरी तरह मुक्त हो गया है और उसे ग्रहण करना अपना धर्म हो जाता है।

—हिंदी नवजीवन, १३ दिसम्बर, १९२८]

३. हमारी पतित बहिनें

["पुरुष जाति ने अपने को जिन-जिन पापों के लिए उत्तरदायी बनाया है, उनमें और कोई भी पाप इतना नीचे गिराने वाला, दिल दहलाने वाला और बर्बर नहीं है, जितना उसके द्वारा स्त्री-जाति का दुरुपयोग है।"]

मुझे उन स्त्रियों से, जो अपनी लज्जा से अपनी जीविका कमाती हैं, मिलने का पहला अवसर आन्ध्र प्रान्त के, कोकनाडा में मिला था। वहाँ ऐसी लगभग आधी दर्जन स्त्रियों से कुछ क्षण बातचीत हुई थी। दूसरा अवसर बारीसाल में मिला था। वहाँ ऐसी सौ से अधिक स्त्रियाँ पहले से समय नियत करके मुझसे मिली थीं। उन्होंने मुझसे मिलने से पहले मेरे पास एक पत्र भेजा था, जिसमें भेंट करने के लिए समय माँगा था और मुझे सूचित किया था कि वे कांग्रेस की सदस्याएँ बन गई हैं तथा तिलक स्वराज फण्ड में चन्दा भी दिया है, पर उनकी समझ में यह नहीं आया था कि मैंने उन्हें विविध कांग्रेस कमेटियों में पद के लिए कोशिश न करने की क्यों सलाह दी है। उन्होंने अन्त में कहा था कि वे अपनी भविष्य की भलाई के लिए मेरी सलाह चाहती हैं। जिन सज्जन ने मुझे पत्र दिया था, उन्हें बड़ी हिचक हुई थी। उन्हें पता नहीं था कि मैं यह पत्र पाकर नाराज़ होऊँगा अथवा खुश होऊँगा। मैंने उन्हें यह आश्वासन देकर शान्त किया कि इन बहिनों की यदि मैं किसी प्रकार सेवा कर सकता हूँ तो उनकी सेवा करना मेरा कर्त्तव्य है।

इन बहिनों के साथ मैंने जो दो घण्टे बिताये हैं, वे मेरे लिए बहु-मूल्य स्मृति हैं। उन्होंने मुझे बताया कि २०,००० से ऊपर पुरुषों, स्त्रियों और बालकों की आबादी में उनकी संख्या ३५० से अधिक है। वे बारीसाल के पुरुषों की लज्जा प्रकट करनेवाली हैं। बारीसाल उनसे जितना ही शीघ्र छुटकारा पा जायगा, उसके लिए उतना ही अच्छा होगा। और जो बात बारीसाल के लिए सच है, वह, प्रत्येक नगर के लिए

सच है इसलिए मैं बारीसाल का नाम उदाहरण के लिए ले रहा हूँ। इन बहिनों की सेवा करने के विचार का श्रेय बारीसाल के कुछ नवयुवकों को है।

पुरुष जाति ने अपने को जिन-जिन पापों के लिए उत्तरदायी बनाया है, उनमें और कोई भी पाप इतना नीचे गिरानेवाला, दिल दहलाने वाला और बर्बर नहीं है, जितना उसके द्वारा स्त्री-जाति का दुरुपयोग है। मेरे निकट स्त्री जाति अबला नहीं है, बल्कि देवी है, मनुष्य जाति का उत्तम अंश है। वह पुरुष की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि आज भी वह बलिदान, मौन कष्ट-सहन, नम्रता, श्रद्धा और ज्ञान की प्रतिमा है। पुरुषों को इस बात का घमण्ड है कि ज्ञान में वे स्त्रियों से बहुत बढ़-चढ़े है, पर बहुधा उनकी अपेक्षा स्त्रियों का सहज-ज्ञान अधिक सत्य साबित होता है। राम के नाम के पहले सीता का और कृष्ण के पहले राधा का नाम जो जोड़ा जाता है उसमें कुछ तत्व है। हमें भ्रम में रह कर इस बात पर विश्वास नहीं करना चाहिए कि यह पाप की बाजी हमारे विकास के लिए आवश्यक है, क्योंकि यह सभ्य युरोप में आज प्रचलित है और कहीं-कहीं तो कानूनन् जायज़ भी है। हमें यह कहकर भी इस पाप का पोषण नहीं करना चाहिए कि भारत के इतिहास में इस प्रथा का उदाहरण मिलता है। हमारी उन्नति का रास्ता उसी घड़ी बन्द हो जायगा, जिस घड़ी हम पाप और पुण्य का अन्तर समझना छोड़ देंगे और गुलामों की तरह भूत-काल की बातों का, जिनका पूरा-पूरा ज्ञान हमें नहीं है, अनुकरण करने लगेंगे। भूतकाल में जो-जो उदात्त और उत्कृष्ट बातें थीं, उनका उत्तरा-धिकारी होने का हमें गर्व है। हमें अतीत काल की गलतियों को बढ़ाकर अपनी विरासत का अपमान नहीं करना चाहिए। इस स्वाभिमानी हिन्दु-स्तान में, क्या हर एक मनुष्य को हरएक स्त्री की पवित्रता की रक्षा उसी प्रकार नहीं करनी चाहिए, जिस प्रकार वह अपनी बहिन की पवित्रता की रक्षा करता है ? स्वराज के मानी यही तो हैं कि हम भारत माता की हर एक सन्तान को अपने ही भाई-बहिन समझें।

इस कारण, पुरुष होने के नाते मैंने अपनी इन सौ बहिनों के सामने

लाज से अपना सिर झुका लिया। कुछ बहिनें अधिक अवस्था की थीं, पर अधिकांश बीस और तीस के बीच की थीं। दो या तीन बारह बरस से भी कम अवस्था की किशोरियाँ थीं। उन्होंने मुझे बताया कि उन सब के छः लड़कियाँ और चार लड़के हैं। इनमें सब से बड़े लड़के का अपनी ही श्रेणी की एक लड़की से व्याह हो गया है। लड़कियों के लिए यदि और कुछ सम्भव नहीं हो सका, तो उन्हें भी उसी जीवन की शिक्षा दी जायगी, जो वे बिता रही हैं। यह बात मेरे दिल में खंजर की तरह चुभ गई कि ये स्त्रियाँ समझती हैं कि हमारा भाग्य सुधर नहीं सकता। सभी स्त्रियाँ बुद्धिमती और लज्जाशीला थीं। उन्होंने बड़ी मर्यादा से बातचीत की; उनके सभी उत्तर पवित्र और सरल थे। और उस क्षण उनका निश्चय भी एक सत्याग्रही के समान दृढ़ था। ग्यारह बहिनों ने प्रतिज्ञा की कि यदि हमें सहायता मिल जाय तो हम अपना वर्तमान जीवन त्याग देंगी और कल से ही चर्खा-कताई और कपड़ा-बुनाई शुरू कर देंगी। अन्य बहिनों ने कहा कि हम आपको धोखा देना नहीं चाहतीं; हमें इस विषय पर विचार करने में समय लगेगा।

बारीसाल के नागरिकों के आगे यह काम पड़ा है। हिन्दुस्तान के सभी सच्चे सेवकों के सामने, स्त्रियां और पुरुषों दोनों के सामने, यह काम पड़ा है। यदि २०,००० की आबादी में इस प्रकार की ३५० अभागिनी बहिनें हैं तो सारे भारतवर्ष में ५२,५०,००० होंगी। पर मैं यह विश्वास करना चाहता हूँ कि भारत की आबादी के चार-पाँचवें हिस्से में, जो गाँवों में रहती हैं और खेती पर जीविका चलाती है, यह बुराई नहीं छू गई है। इसलिए भारत में ऐसी स्त्रियों की संख्या कम-से-कम १०,५०,००० होगी, जो अपनी मर्यादा बेचकर अपनी जीविका चलाती हैं। इन अभागिनी बहिनों को पतन के गड्ढे से उबारने से पहले दो शर्तें पूरी होनी आवश्यक हैं। पहले तो हम पुरुषों को अपनी वासना पर अङ्कुश रखना सीखना चाहिए और दूसरे इन स्त्रियों के लिए ऐसे धन्धे का प्रबन्ध होना चाहिए, जिससे वे मर्यादा के साथ अपनी जीविका चला सकें। असहयोग आन्दो-

लन यदि हमें पवित्र नहीं बनाता और हमारी बुरी वासनाओं पर अङ्कुश नहीं लगाता तो कुछ नहीं है। कताई और बुनाई का धन्धा एकमात्र ऐसा है, जिसे सभी अपना सकते हैं, फिर भी जिसमें भीड़ नहीं हो सकती। इन बहिनों को, इनमें से अधिकांश को, विवाह का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने स्वीकार भी किया था कि वे विवाह का विचार कर नहीं सकतीं। इसलिए उन्हें भारत की सच्ची संन्यासिनियाँ बन जाना चाहिए। उन्हें सेवा करने के अलावा जीवन की और कोई चिन्ता न रहेगी, ऐसी अवस्था में वे जी भर कताई और बुनाई कर सकती हैं। यदि दस लाख स्त्रियाँ प्रतिदिन परिश्रम के साथ आठ घण्टा बुनाई करने लगें तो इसके मानी होंगे कि दरिद्र भारत को प्रतिदिन इतने ही रुपयों की आय होगी। इन बहिनों ने मुझे बताया कि उनकी प्रतिदिन की आय दो रुपया तक है। इसके साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि पुरुषों की वासना को प्रज्वलित करने के लिए बहुत-सी वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। यदि वे कताई और बुनाई का धन्धा अपनाकर पुनः स्वाभाविक जीवन बिताने लगेंगी तो वे आसानी से इन चीजों को त्याग सकेंगी। जिस समय तक मेरी बातचीत समाप्त हुई, उस समय तक मेरे बिना बताये ही वे समझ गई थीं कि वे यदि अपने पाप-कर्म को छोड़ नहीं देतीं तो कांग्रेस कमेटियों के पदों पर क्यों नहीं आसीन हो सकतीं। स्वराज की वेदी के निकट, जबतक हाथ पवित्र न हो और हृदय पवित्र न हो, कोई भी पदाधिकारी के पद पर कार्य नहीं कर सकता।

—यंग इण्डिया, १५ सितम्बर, १९२१]